राष्ट्ररक्षा
के
वैदिक साधन

स्वामी वेदानन्द तीर्थ

ओ३म्

राष्ट्र रक्षा के वैदिक साधन

लेखकः—
वेदामृत, वैदिक धर्म, ब्रह्मोद्योपनिषत्, योगोपनिषत्, स्वाध्याय सुमन, स्वाध्याय संग्रह, स्वाध्याय सन्दोह, संध्यालोक सावित्रीप्रकाश आदि ग्रन्थोंके निर्माता ज्वालापुर (हरद्वार)स्थ सार्वदेशिक दयानन्द संन्यासि वानप्रस्थ मण्डलाध्यक्ष

तथा

विरजानन्द वैदिक संस्थानाध्यक्ष

स्वामी वेदानन्द-(दयानन्द-)तीर्थ

प्रकाशकः—

सार्वदेशिक प्रकाशन लिमिटेड
पाटौदी हाउस,
देहली।

[प्रथम संस्करण २०००] संवत् २००६ [मूल्य १)

❀ ओ३म् ❀

॥ समर्पण ॥

उन अज्ञातनामा, विस्मृतकर्मा, दिव्यधामा, आत्मत्यागी
वीरपुङ्गव योद्धाओं की पुण्य पावन पवित्र शुचि स्मृतिमें,
जिन्होंने भारत स्वातन्त्र्यसंग्राम में न केवल अपने
प्राण ही दिये प्रत्युत नाम भी दिये, जिन्होंने
आत्मविस्मृत होकर अपना आप भारत में
विलीन कर दिया, जिनकी उग्र, तीव्र
कठोर, पवित्र तपस्या का फल भोगते
समय हम उनके भव्य भावन
भौतिक दर्शनों तथा पवित्र
सहवास से वञ्चित हैं।

स्वामी वेदानन्दतीर्थ

PREFACE.

I am asked to write a Preface to the booklet by Swami Vedananda Tirtha. Owing to pressure of work I had declined to accede to the request of the author. But as he has been insisting on my writing a few words, I have agreed to do so. The author's plea is that free India should adopt as its religion the gospel preached by the Vedas which is scattered all over the Vedas and which he has collected together in one place in this booklet. I do not know that the book will become the gospel of new India. But I can say that the book is not merely a wonderful collection of statements drawn from the Religious Books of the ancient Aryans but it brings out in a striking manner the vigour of thought and action which prevailed among the ancient Aryans. What the book shows is that there is nothing in it of that pessimism among the ancient Aryans which dominates the modern Hindus. The work would have been of greater value if the author had considered why the positivism and optimism of India's ancient past gave place to the pessi-

mism of later days. I hope that the author will deal with this problem at some later stage. In the meantime it is no small contribution to our knowledge that the theory that world is Maya is a new invention. It is from this point of view that I commend this booklet.

B. R. AMBEDKAR.

ई वैदिक पुस्तकालय मुम्बई
आचार्य धर्मधर आर्य
सम्पर्क - 9029421718

प्राक्कथन

स्वामी वेदानन्दतीर्थ की इस पुस्तिका का प्राक्कथन लिखने के लिए मुझे प्रेरणा की गई। कार्य्यभार के कारण मैं लेखक की प्रार्थना स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट करता रहा। किन्तु मेरे द्वारा कतिपय शब्द लिखने के लिए लेखक का अनुरोध निरन्तर रहा, अतः मुझे लेखक का अनुरोध स्वीकार करना ही पड़ा।

लेखक की स्थापना यह है कि स्वतन्त्र भारत वेद प्रोक्त शिक्षा को अपने धर्म के रूप में अङ्गीकार करे। यह शिक्षा संपूर्ण वेदों में विभिन्न स्थलों में निर्दिष्ट है और इस का, लेखक ने, इस पुस्तिका में संकलन कर दिया है।

मैं यह तो नहीं कह सकता कि यह पुस्तक नवीन भारत का धर्म ग्रन्थ बन जाएगी, किन्तु यह मैं अवश्य कह सकता हूँ कि यह पुस्तक पुरातन आर्यों के धर्म ग्रन्थों से संकलित उद्धरणों का केवल अद्भुत संग्रह ही नहीं है, प्रत्युत यह चामत्कारिक रीति से उस विचारधारा तथा आचार की शक्ति को प्रकट करती है जो पुरातन आर्य्यों को अनुप्राणित करती थी। पुस्तक प्रधानतया यह प्रतिपादित करती है कि पुरातन आर्य्यों में उस निराशावाद (दुःखवाद) का लवलेश भी नहीं था जो वर्त्तमान काल के हिन्दुओं पर प्रबल रूप से छाया हुआ है।

पुस्तक की उपयोगिता और भी अधिक बढ़ जाती यदि लेखक महोदय यह भी दर्शाने का प्रयत्न करते कि प्राचीन भारत के सत्ववाद तथा आशावाद को उत्तर काल के निराशावाद ने कैसे पराभूत कर दिया ? मुझे आशा है कि लेखक इस समस्या की किसी अन्य समय पर विवेचना करेंगे। तथापि इस समय हमारे ज्ञान में यह कोई अल्प (नगण्य) वृद्धि नहीं है कि मायावाद (संसार को माया मानना) नवीन कल्पना है। इस दृष्टि से मैं इस पुस्तकका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

बी० आर० अम्बेडकर



॥ ओ३म् ॥

* आमुख *

भारत स्वतन्त्र हो गया है। जैसी स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है, उसके लिए बहुत बड़ा शुल्क देना पड़ा है। असंख्यात जन शूली पर चढ़े हैं, जेलों में सड़े हैं, गोलियां खाई हैं। कई ग्रामों का चिह्न तक मिटा दिया गया। स्वतन्त्रता देवी सचमुच बहुत बड़ी बलि लिया करती है। स्वतन्त्रता मिली, किन्तु भारत अखण्डित न रहा। भारत का बहुत बड़ा भू-भाग भारत के अङ्ग से काट दिया गया। लाखों निरीह निर्दोष मनुष्य—बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री पुरुष—किसी अपराध के बिना मौत के घाट उतार दिये गये। यह क्यों हुआ, आज इसकी विवेचना करना उपयुक्त नहीं है। भावी तटस्थ ऐतिहासिक कदाचित् इसका विश्लेषण कर सकें। किन्तु इस बात के कहने में कुछ दोष नहीं कि लगभग एक सहस्र वर्ष से हम एक भयङ्कर भूल करते आ रहे थे, उसका यह परिणाम हुआ है।

यदि वर्त्तमान काल में भारत से पृथक् किया गया भू-भाग वापिस न लिया जा सका, तो आगे आने वाली सन्तान भारत के इस स्वरूप को भूल जाएगी, इस खण्डित देश को ही सम्पूर्ण भारत मान लेगी। उसे यह कभी सूझेगा ही नहीं कि भारत इससे कहीं बहुत बड़ा था। जैसे आज के साधारण भारतीय को यह

ज्ञात नहीं कि आज से सहस्रों वर्ष पूर्व भारत बहुत अधिक विस्तृत था।

रामायण और महाभारत के आलोचन से ज्ञात होता है कि वर्त्तमान ईरान तथा अफ़गानिस्तान भारत के भाग थे। अरब वालों से भारतीयों के विवाहादि सम्बन्ध होते थे। मिश्र तथा अरब के सम्राट् बाणासुर (बनिपाल अस्सुर) की कन्या उषा का विवाह-सम्बन्ध महाभारत युद्ध के विख्यात वीर अर्जुन के सारथि भगवान् कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध से हुआ था।

पौराणिक काल में हमारे भारत की पश्चिमोत्तरी सीमा कश्यप सागर Caspean Sea के पश्चिम-तटवर्त्ती बाकूनगर तक अवश्य थी। ज्वालामुखी देवी का पुरातन मन्दिर वहां है, उसमें संस्कृत-शिलालेख विद्यमान हैं। सन् १६१४ ई० [वैक्रम संवत् १६७१] तक वहां भारतीय पुजारी भी रहता था, वह मुलतान ज़िले का निवासी था। वह ज्वालामुखी 'बड़ी माई' कहलाती थी और कांगड़ा वाली छोटी माई कहलाती थी। आज यह बात प्रायः सब को विस्मृत हो चुकी है। हमारे प्रमाद के कारण हम समय-समय पर धकेले जाते रहे, आज हमें एक और धक्का लगा है और हम कहां आ पहुंचे हैं? बलोचिस्तान में की हिंगलाज देवी, पेशावर की पञ्चतीर्थी, बन्नू ज़िले के भरत तथा कैकेयी ग्राम, मुलतान की नृसिंहपुरी, शाहपुर ज़िला का नरसिंह फोहार, जेहलम ज़िले का कटास (कटाक्ष) राजतीर्थ, रावलपिंडी ज़िला के चोहा-भक्तां, थोहाखालसा तीर्थ आदि आदि पुण्य स्थान विस्मृति के

गर्त में निगीर्ण हो जाएंगे। यह भूलना शुभ नहीं है। अस्तु।

भारत की पराधीनता पर इस काल के ज्ञात इतिहास में जिस व्यक्ति ने सब से प्रथम शोकाश्रु बहाये हैं, हृदय की वेदना का परिचय दिया है, वह एक संसारत्यागी वीतराग योगी था। विक्रम की उन्नीसवीं शती में उस जैसा सुधारक भारत क्या अन्यत्र भी नहीं दीखता। अंग्रेजों के प्रचण्ड आतङ्क से जब आतङ्कित होकर भारतीय मूक हो रहे थे, उस विकट समय में उस महामनुष्य ने 'स्वदेशी राज्य' को सर्वोत्तम घोषित किया। उसके पुनीत शब्द इस प्रकार हैं :—

"अब अभाग्योदय से और आर्य्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की कथा का क्या कहना, किन्तु आर्य्यावर्त्त में भी आर्य्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे परन्तु जो **स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है**। अथवा मतमतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं होता। परन्तु भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक् पृथक् शिक्षा, अलग व्यवहार का छूटना दुष्कर है। विना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना

कठिन है ।" (सत्यार्थप्रकाश—अष्टम समुल्लास, पृ० १४१, ३८ वां संस्करण) ।

पराधीनता पर कितना खेद प्रकट किया है। विदेशी राज्य की अनुपयोगिता किस मार्मिक रीति से घोषित की है। स्वराज्य का महत्त्व कितने भव्य शब्दों में आविष्कृत किया है। यह स्मरण रखना चाहिए कि कांग्रेस का तब जन्म भी नहीं हुआ था।

जिस महामनुष्य ने भारतीयों को इस युग में स्वराज्य का नाद सुनाया, उसी महात्मा ने अपने दीर्घ तप, विशाल अनुभव, और विस्तृत अध्ययन के आधार पर भारतीय जनता को विशेष रूप से और अन्यों को सामान्य रूप से बताया—कि वेदों की ओर चलो।

आज का विकासवादी भी मानव समाज का हितकर कोई ऐसा सिद्धान्त प्रस्तुत न कर सका, जिसका वेद में उल्लेख न हो। भारतीय परम्परा के अनुसार 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक' माना जाता है। अतः उस महर्षि ने वेदाभ्यास पर बहुत अधिक बल दिया।

यहां उस महामनुष्य के महनीय महोपकारों के परिगणन की आवश्यकता नहीं है, किन्तु उसके एक अतीव उपयोगी महोपकार की चर्चा करने के लोभ को हम संवरण नहीं कर सकते। महाराज के कार्य्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने से पूर्व एक भारतीय महापुरुष की प्रेरणा पर अंग्रेज शासकों ने एक ऐसी योजना का आयोजन कर उसे कार्य में परिणत करना आरंभ कर दिया था, जिससे भारतीय अपने अतीत गौरवपूर्ण इतिहास को भूल जाएं।

दयानन्द प्रथम महामनुष्य है जिसने भारतीयों में जातीय गौरव को जगाया। इनके अन्दर पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा के कारण उत्पन्न हुई हीन भावना को भगाया, और अपने पूर्वजों, अपनी सभ्यता, तथा संस्कृति पर गर्व करना सिखा कर जातीय गौरव की अनुभूति सिखाई। दयानन्द यदि और कुछ न करते, केवल यही कार्य्य कर जाते तो भी आने वाली सन्तान के कल्याण के लिए यह पर्य्याप्त था। किन्तु दयानन्द ने इससे अधिक वेद की ओर चलने का आदेश करके यह बताया कि तुम उच्छिष्टसेवी मत बनो। अपने दृष्टि-कोण से सभी वस्तुओं और घटनाओं को देखो, विचारो और अपने दृष्टि-कोण तथा अपनी सभ्यता संस्कृति की कसौटी के द्वारा उनका मूल्य आंकों। यह इतनी बड़ी देन है कि जिसकी समता और कोई वस्तु नहीं कर सकती।

दायनन्द जब तक जिए, इस कसौटी पर सबको कसते रहे और इसीके अनुसार चलने का उपदेश करते रहे। वे प्रत्येक समस्या का समाधान वेद से प्राप्त करते थे।

आज जब देश स्वतन्त्र हो गया है तब उस स्वतन्त्रता की रक्षा की विकट समस्या उपस्थित है। स्वतन्त्रता का प्राप्त करना इतना कठिन नहीं जितना कि उसकी रक्षा करना। वेद में स्वराज्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। अथर्ववेद के बारहवें काण्ड का प्रथम सूक्त राष्ट्र सूक्त या स्वराज्य सूक्त है। वेद में अध्यात्म प्रकरण से उतर कर दूसरा स्थान राष्ट्र का है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का अस्सीवां सूक्त स्वराज्य सूक्त है, उसके प्रत्येक मन्त्र के

अन्त में आता है—'अर्चन्ननु स्वराज्यम् ।'* इस प्रकार चारों वेदों में स्थान-स्थान पर राष्ट्र की बहुत चर्चा है।

स्वराज्य के सम्बन्ध का एक मन्त्र यहां देना अप्रासाङ्गिक न होगा—

ओ३म् आयद्वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः ।
व्यचिष्टे बहुपाय्ये स्वराज्ये यतेमहि ॥
(अ० ५ । ६६ । ६)

विशाल दृष्टि वाले परस्पर स्नेह सूत्र से आबद्ध भद्र मनुष्यो ! आओ ! तुम और हम सब मिलकर विशाल तथा अनेकों से रक्षणीय स्वराज्य के निमित्त यत्न करें।

स्वराज्य को विशाल तथा बहुपाय्य कहा है। बहुपाय्य शब्द मनन करने योग्य है। स्वराज्य की रक्षा किसी एक की साध्य नहीं है इसके लिए तो राष्ट्र के सभी मनुष्यों का कर्त्तव्य है। कोई एक टोली चाहे वह कैसी ही शक्तिशालिनी क्यों न हो, स्वराज्य तथा स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकती। राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर राष्ट्र के प्रति स्वत्व तथा ममत्व का भाव उत्पन्न करके उनका सहयोग प्राप्त करना चाहिए।

अब जब कि स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई है यह आवश्यक है कि हम अपनी पुरानी मर्यादाओं का अवलोकन और आलोचन करें

---

*इन दोनों तथा एक और सूक्त की विस्तृत व्याख्या के लिए 'वैदिक स्वदेश भक्ति' नामक लेखक की पुस्तक देखनी चाहिए।

कि क्या वे इस समय भी उपयुक्त हैं या नहीं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है वेद में राजनीति प्रकरण बहुत विस्तृत है। हम यहां दो एक विषयों के सम्बन्ध में वैदिक निर्देश देना चाहते हैं। सबसे प्रथम राजा के सम्बन्ध में लीजिए। वेद राजा का प्रजा द्वारा चुनना विहित करता है। यथा—

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः ॥

(अ० ३।४।२)

तुझे ये व्यवहारकुशल समस्त प्रदेशों में रहने वाली प्रजाएं राज्य के लिए चुनें।

चुनाव के साथ संकेत से चुनने वालों का निर्देश भी कर दिया गया है। समस्त प्रजा को चुनने का अधिकार वेद देरहा है, जो कदाचित् संसार में कहीं नहीं है। चुनने वालों का थोड़ा सा परिगणन भी वेद ने कर दिया है—

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥

(अ० ३।५।६)

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥

(अ० ३।५।७)

जो धीवान् = धीवर, रथकार, कर्मार = शिल्पी लोहकार आदि मनीषी = बुद्धिमान, अर्थात् अपनी बुद्धि से कार्य्य करने वाले

हैं, अपनी मति का उपयोग करना जानते हैं, जो राजा=सामन्त, राजकृत=राजा को बनाने वाले, सूत=गाथाएं कहने वाले तथा ग्रामणी=समुदायों के नेता हैं, हे पर्ण! उन सबको मेरे चारों ओर उपस्थित रहने वाला बनाओ।

इन मन्त्रों से प्रतीत होता है कि राजा के चुनाव में सभी का अधिकार है। 'ग्रामणी' पद एक विशेष संकेत करता प्रतीत होता है। इस पद से ऐसा प्रतिभासित होता है कि पहले प्रत्येक व्यवसाय-संघ अपना अपना मुखिया चुनता है, और वे मुखिया फिर राजा को चुनते हैं। मन्त्रों में आया 'मनीषिणः' पद भी बहुत महत्त्व का है। 'मनीषी' का अर्थ है अपनी मनीषा=मन्शा का स्वामी। अर्थात् जो अपनी बुद्धि के अनुसार कार्य कर सकता हो, परप्रत्ययनेय बुद्धि न हो, दूसरों के बहकावे में आने वाला न हो।

अ० ३।४ में चुनाव में भाग लेने वालों का परिगणन करके अन्त में कहा है—

तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु। वे सारी प्रजाएं एक मत करके, एकमत होकर तुझे चाहें।

राज्याभिषेक करते समय पुरोहितादि प्रजा के प्रतिनिधि अमात्यवर्ग से कहते हैं—

इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते
ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय ॥

य० ६।४०।

स्व. श्री. शांताराम रामजी तारकर
(यांच्या स्मरणार्थ देणगी

हे राजनीति-व्यवहारकुशल महामनुष्यो ! इस चुने जाते हुए राजा को शत्रुरहित बनाकर महान् क्षत्र, महान् उत्कर्ष, महान् जानराज्य=जनता के राज्य, तथा राजैश्वर्य्य के लिए प्रेरित करो।

इसमें जानराज्य शब्द विचारने योग्य है। जानराज्य का अर्थ है जनता का राज्य=जनतन्त्र।

इस से स्पष्ट सिद्ध है कि वेद स्वेच्छाचारी, निरङ्कुश शासन का प्रतिपादक नहीं है। वेद तो जानराज्य = जनता के राज्य का पक्षपाती है।

इस तत्त्व की पुष्टि यजुर्वेद १०। २८ के निम्नलिखित वाक्य से और अधिक होती है—

इन्द्रोसि विशौजाः=हे राजन्। तू प्रजा के बल वाला इन्द्र है। अर्थात् राजा का मूल प्रजा है ('King derives his power from the people')। कितना स्पष्ट है। पीछे देखने का विरोध करने वाले संसार के कल्याणकारी इन व्यावहारिक उपयोगी तत्त्वों के ज्ञान से अपने को तथा जगत् को वञ्चित रखना चाहते हैं।

राजा को राज्यकार्य्य में सहायता देने तथा उसको नियन्त्रण में रखने के लिए समितिनिर्माण का विधान भी है। राजा को संबोधन करके कहा गया है—

ध्रुवोऽच्युतः प्रमृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह॥

अ० ६। ८८। ३

तू दृढ़ तथा अडिग रहकर शत्रुओं तथा शत्रु जैसा आचरण करने वालों को मार दे, नीचे गिरा दे। तेरे राज्य के सब प्रदेशों में रहने वाली प्रजाएं एक मन वाली तथा मिलजुल कर कार्य करने वाली हों। इस राज्य में तुझे दृढ़ रखने के लिए समिति समर्थ होवे, शक्तिशालिनी होवे।

ऐसा प्रतीत होता है कि दो सभाएं राजा को परामर्श देने के लिए होनी चाहियें, एक का नाम सभा है दूसरी का नाम समिति है। यथा—

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना सं गच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः सङ्गतेषु॥

अ० ७। १२। १

प्रजापति की कन्याओं के समान ये सभा तथा समिति एकमत होकर मेरे कार्य्य की सिद्धि करें, जिस के साथ मेरा मेल हो, वह मुझे शिक्षा दे [अर्थात् राष्ट्र की यथार्थ स्थिति का बोध कराए] हे राष्ट्रपालको! जिससे मैं सम्मेलनों में सुन्दर बोलूं।

क्या यह आजकल की भांति दो धारासभाओं का निर्देश है अथवा धारासभा Legislature और समिति Executive का संकेत है, अथवा सभा=Civil और समिति=Military Council का इशारा है? दो बातें इस मन्त्र में विशेष ध्यान देने योग्य हैं—एक तो सभाओं को प्रजापति की कन्याएं बताया है, कन्या माननीय होती है। दूसरी यह कि उन दोनों में ऐकमत्य होना चाहिए।

सभा के सम्बन्ध में एक मन्त्र और भी यहां देखना चाहिए—

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि ।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥

(अ० ७ । १२ । २)

हे सभे ! तेरा नाम हम जानते हैं, तू सचमुच नरिष्टा=जन-हितकारिणी है। जो कोई तेरे सभासद् हों वे सब बोलने वाले—यथार्थ बोलने वाले हों, गूंगे न हों।

मनु महाराज ने मानो इसी का अनुवाद करते हुए कहा है—

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्विषी ॥
यत्र धर्म्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥

(मनु० ८ । १३, १४)

धार्मिक मनुष्य को योग्य है कि वह सभा में प्रवेश न करे और जो प्रवेश किया हो तो सत्य ही बोले। जो कोई सभा में अन्याय होते हुए को देखकर मौन रहे अथवा सत्य न्याय के विरुद्ध बोले, वह पापी होता है। जिस सभा में अधर्म से धर्म्म, असत्य से सत्य सब सभासदों के देखे मारा जाता है उस सभा में सब मृतक के समान हैं, जानो उनमें कोई भी नहीं जीता॥

इसी प्रकार ऋग्वेद ३ । ३८ । ६ में तीन सदः = सभाएं = विभाग departments बनाने का विधान है—

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि।

राजा और प्रजाजन मिलकर सुख-प्राप्ति के लिए तीन सभाएं बनाएं जो सब सदः=विभागों का संस्कार करें।

ऋषियों ने इन तीन सभाओं का नाम विद्यार्य सभा, धर्म्मार्य्य सभा तथा राजार्य्य सभा बताया है। इस प्रकार वेद में राज्य-कार्य्य के सम्बन्ध में मनन करने योग्य अनेक निर्देश हैं। मनु-स्मृति में इसके सम्बन्ध में कई अध्याय हैं। जो इस विषय को विस्तार से देखना चाहें, वे सत्यार्थप्रकाश के षष्ठ समुल्लास को ध्यान से पढ़ें।

हम ऊपर बता चुके हैं कि राष्ट्र रक्षा के साधनों का भी वेद में वर्णन है। अथर्ववेद के १२।१।१ मन्त्र में राष्ट्रधारण के आठ उपायों का उल्लेख हुआ है। अगले पृष्ठों में उन उपायों की विशद किन्तु संक्षिप्त व्याख्या है। देहली के दीवानहाल आर्य्यसमाज के वार्षिकोत्सव के उपलक्ष में लेखक ने २२ जनवरी से २६ जन-वरी १६४७ ई० [६ माघ से १६ माघ सं० २००४ वै०] तक उस मन्त्र की कथा कही थी। कई महाशयों के अनुरोध पर उस कथा को लिपिबद्ध कर दिया गया है। उसमें पहले दिन की कथा जिसमें वेदस्वरूप का निरूपण था तथा कथा में कहे सामयिक दृष्टान्त तथा ऐतिहासिक उदाहरण छोड़ दिए हैं। यत्न किया गया है कि उन प्रवचनों के मूल शब्द बने रहें। हां, इतना अन्तर अवश्य करना पड़ा है जितना उक्त तथा लिखित भाषा में होता है। उतना अन्तर तो करना ही चाहिए था।

किसी को पसन्द आई अथवा आएगी, इस भावना से यह कथा नहीं लिखी गई। प्रत्युत उपयोगी जानकर, जनसाधारण का इससे हित हो सकेगा, इस भाव से प्रेरक महाशयों की प्रेरणा को स्वीकार किया गया है।

वेद सनातन सत्य का उपदेशक है। इस विषय में भी वेद का उपदेश नितान्त, और सभी जातियों, देशों एवं राष्ट्रों के लिए हितकर है। लेखक का पूर्ण विश्वास है, जो इसका मनन पूर्वक अध्ययन कर इसके अनुसार अनुष्ठान करेगा, अवश्य उसका कल्याण होगा।

हमारे पुरातन नीतिकार भी वेद की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। यथा—

व्यवस्थितार्य्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति॥

(कौ० अ०, विनया०, ३ । २७)

जिस देश में आर्य्य मर्यादा सुव्यवस्थित है, वर्णाश्रम की मर्यादा का उचित पालन होता है, तथा जिस देश में वेद की रक्षा होती है, जहां वेदानुसार व्यवहार होता है वह देश फलता फूलता है, उसका विनाश कभी नहीं होता।

इस कथा को लिपिबद्ध करने की अपेक्षित सामग्री प्रस्तुत करने तथा अन्य सुविधाएं देने के लिए मैं श्री० पं० वीरेन्द्र जी 'सिद्धान्त भूषण' का कृतज्ञ हूं।

स्वामी वेदानन्दतीर्थ

१ चैत्र २००४ वै०]

॥ ओ३म् ॥

राष्ट्ररक्षा के वैदिक साधन

ओ३म् सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो
ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ते ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं
लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥

(सत्यं) सत्य, (बृहत्) बृहत्=महत्त्व, महत्त्वाकांक्षा, (ऋतम्) ऋत (उग्रम्) उग्र=उग्रता, तेजस्विता, (दीक्षा) दीक्षा (तपः) तप, (ब्रह्म) ब्रह्म=ज्ञान विज्ञान और (यज्ञः) यज्ञ (पृथिवीम्) पृथिवी को राष्ट्र को (धारयन्ते) धारण करते हैं। (सा) वह (नः) हमारे (भूतस्य) अतीत, वर्त्तमान तथा (भव्यस्य) भावी की [निधिरूप से] (पत्नी) रक्षक, (पृथिवी) स्वराष्ट्र, हमारी विशाल मातृभूम (नः) हमारे लिए (उरुम्) विस्तृत (लोकम्) स्थान तथा प्रकाश की (कृणोतु) व्यवस्था करे।

इस मन्त्र में प्राप्त स्वतन्त्रता के रक्षण के आठ उपाय निदृष्ट हुए हैं, यथा—

१. सत्य २. बृहत्=महत्त्वाकांक्षा ३. ऋत ४. उग्र=उग्रता=तेज-

स्विता ५. दीक्षा ६. तप ७. ब्रह्म=ब्रह्मचर्य तथा ८. यज्ञ। इनमें से प्रत्येक की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत की जाती है।

१. सत्य—जो वस्तु जैसी हो, उसे वैसा जान कर वैसा मानना, बोलना तथा करना सत्य मानना, सत्य बोलना तथा सत्य करना कहलाता है। अर्थात् वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझ कर तदनुसार व्यवहार ही सत्य व्यवहार है।

वैदिक धर्म्म में सत्य का आसन बहुत ऊंचा है। मनुस्मृति में धर्म्म के दश लक्षणों में सत्य की गणना की गई है। जैसा कि--

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म्मलक्षणम् ॥

धैर्य्य=व्याकुल न होना, क्षमा-दुर्बल के अपराध को सहन करना, दम=मन को अपने अधीन रखना, शौच=अन्दर बाहर की पवित्रता, स्वच्छता, इन्द्रियनिग्रह=ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को नियन्त्रण एवं संयम में रखना; धी=बुद्धि, श्रुत पाठित आदि को धारण करने का सामर्थ्य, विद्या=ज्ञान=यथार्थ तत्त्वबोध, सत्य तथा अक्रोध ये धर्म्म के दस लक्षण हैं।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वैदिक धर्म्म सत्य को एक महत्त्व-पूर्ण स्थान देता है। जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषत् में विद्या समाप्त कर चुकने पर ब्रह्मचारी को आचार्य्य उपदेश देते हुए सबसे प्रथम उपदेश देता है—

सत्यं वद=तू सत्य बोला कर।

मनु महाराज ने सत्य को सर्वश्रेष्ठ बतलाया है :—

नहि सत्यात्परो धर्म्मो नानृतात्पातकं परम् ।

सत्य से श्रेष्ठ कोई धर्म्म नहीं, और झूठ से बढ़ कर कोई गिरावट का कारण नहीं ।

धर्म्म=धारण करने योग्य बातें अनेक हैं, सभी उत्तम हैं। भले ही सत्य से वे घटिया न हों किन्तु सत्य से श्रेष्ठ नहीं हैं। सुतरां सत्य की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध ही है ।

ब्रह्मचारी को, जब वह गुरुकुल में प्रविष्ट हो रहा होता है तब, आचार्य्य जो उपदेश देता है, उसमें निम्नलिखित दो उपदेश ध्यान देने योग्य हैं। १. **सत्यं वद्**=सत्य बोला कर २. **क्रोधानृते वर्जय**=क्रोध और झूठ को त्याग दे। यहां विधि तथा निषेध दोनों प्रकारों से सत्य के धारण का आदेश है ।

राष्ट्र के स्वरूप का तनिक सा विचार करें तो आपको स्पष्ट प्रतीत होगा कि यह एक विशाल परिवार ही है। राष्ट्र की मूल इकाई गृहस्थ है, अनेक गृहस्थों के समुदाय को एक बिरादरी; कुल, वंश या अन्वय कहते हैं। अनेकानेक अन्वय, जिन के भावों की समता, परस्पर सहयोग की आवश्यकता की अनुभूति और दैनन्दिनीय जीवन-व्यवहार में परस्पर के अवलम्बन की अपेक्षा की प्रतीति हो; राष्ट्रपदवाच्य होते हैं। अर्थात् राष्ट्र का मूल गृहस्थ है। और मनुष्य गृहस्थ तब बनता है जब कोई स्त्री या पुरुष दूसरे पुरुष या स्त्री को किन्हीं विशेष पारस्परिक श्रवण प्रतिश्रवणों [प्रतिज्ञाओं] द्वारा अपना जीवनसंगी बनाकर अपने सुखदुःख,

हानिलाभ, संपत्तिविपत्ति का सांझीदार बनाता है। अकेला मनुष्य प्राय: स्वच्छन्द होता है। उसे आवश्यक नहीं कि वह रहने के लिए या रात्रियापन के लिए कोई कुटि या प्रासाद बनाए, [यद्यपि उसे भी, पराश्रय लेते समय, या किसी के पड़ोस में रहने की दशा में किसी व्यवस्था का परवश होना अनिवार्य्य है।] किन्तु जब कोई मनुष्य अकेलापन त्याग करके विधिपूर्वक किसी के सहयोग में रहना स्वीकार करता है तो अपनी स्वच्छन्दता का थोड़ा सा त्याग अवश्यमेव करता है और उच्छृङ्खलता को तो सर्वथा ही छोड़ देता है। उसे उस समय अपने साथी की सुखसुविधा के लिए अपने सुख का कुछ उत्सर्ग करना होता है और ऐसा करते हुए उसे एक विशेष प्रकार का सुख अनुभव होता है। इस आदान प्रदान का रूप कुछ व्यवस्थित होता है। यहां से व्यवस्था–नियम का आरम्भ होता है। गृहस्थ होने पर सन्तान का आरम्भ, सन्तान के पुनः विवाह आदि के कारण सम्बन्ध का विस्तार होता है, इस सम्बन्धविस्तार का पर्य्यवसान राज्यव्यवस्था में होता है। इस व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए सत्य सबसे अनिवार्य एवं प्रमुख उपाय है। यदि गृहस्थ में रहते हुए लोग परस्पर मिथ्या बोलें तो गृहस्थ का सब कार्य्य चौपट हो जाए। परस्पर अविश्वास होने से कोई भी कार्य्य पूरा न हो सके। अविश्वास के कारण पारस्परिक प्रेम भी न्यून हो जाता है। प्रेम की न्यूनता बहुधा विद्वेष, वैर, विरोध में परिणत हो जाती है। विद्वेष, वैर, विरोध के कारण एक दूसरे पर घात

प्रतिघात की उत्तेजना मिलती है। घात प्रतिघात का फल सर्वनाश के अतिरिक्त और कोई है ही नहीं। अतः इस भयङ्कर परिणाम से बचने का एकमात्र उपाय यह है कि पारस्परिक व्यवहार में असत्य का प्रवेश न होने दिया जाय। उसमें विशुद्ध सत्य का ही प्रयोग करना चाहिये।

मनुष्य-जीवन में अनेक वार ऐसे अवसर आते हैं जब उसे यह निश्चय नहीं हो पाता कि क्या सत्य है और क्या असत्य है। यद्यपि वेद में सत्य को त्रिकालाबाधित=तीनों कालों में एक सा रहने वाला कहा गया है; यथा—

स हि सत्यो यं पूर्वेचिद् देवासश्चिद्यमीधिरे।

(ऋ० ५। २५। २ पू०)

वही सत्य है जिसे पूर्वले ज्ञानी भी प्रकाशित करते थे अर्थात् जो पूर्व, वर्तमान तथा आगामी काल में एक सा हो, दूसरे शब्दों में सत्य सत्य ही रहता है, वह असत्य कभी नहीं होता, तात्पर्य्य यह कि विशुद्ध सत्य सापेक्ष (Relative) नहीं होता; तथापि ऐसी अवस्था कई वार आ ही जाती है, जब सत्य और असत्य बहुत प्रबल रूप में आते हैं। इतने प्रबल रूप में उनके यथार्थ स्वरूप का जानना कठिन–अति कठिन हो जाता है। वेद में इस अवस्था का चत्र इस प्रकार चित्रित किया गया है—

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।

(ऋ० ८। ४। १२ पू०)

उत्तम विवेकयुक्त ज्ञान प्राप्त करने के अभिलाषी जन के सामने सत्य और असत्य वचन एक दूसरे को दबाते हुए से आते हैं।

मनुष्य ऐसी अवस्था में किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। वेद ने इस द्विविधा से निकलने अर्थात् सत्य और असत्य के पहचानने का एक सरल उपाय बताया है। यथा—

तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयः तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्।
(अ० ८। ४। १२ उ०)

उन एक दूसरे को दबाते से सत्य और असत्य में जो सत्य अर्थात् सरलतर होता है उसकी भगवान् रक्षा करता है और असत्य का नाश कर देता है।

वेद ने सत्य की कितनी सुन्दर पहचान बताई है। सचमुच सत्य सरलतर है और भगवान् सत्य की अवश्य रक्षा करता है। इसी भाव का अनुवाद करते हुए ब्रह्मवादी ऋषियों ने भी घोषणा की—

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन विततः पन्था देवयानः।
(मुण्डको०)

सत्य ही का जय होता है न कि असत्य का, क्योंकि देवों का गन्तव्य मार्ग सत्य से विस्तार पाता है।

ऋग्वेद में भगवान् ने अपनी अनुपम शैली के द्वारा असत्य को बन्धन का हेतु कहा है—

के ते अग्ने रिपवे बन्धनासः के पायवः सनिषन्त द्युमन्तः।
के धासिमग्ने अनृतस्य पान्ति क आसतो वचसः सन्ति गोपाः॥

हे सच्चे नेता ! तेरे शत्रु के लिए क्या २ बन्धन हैं ? कौन भक्तिभाजन कीर्त्तिमान् रक्षक हैं ? मिथ्या के बन्धन की रक्षा कौन करते हैं ? सर्वथा सत्य के कौन रक्षक हैं ?

तनिक ध्यान से विचारिये, मिथ्या के साथ बन्धन पद का प्रयोग मिथ्या को बन्धन का कारण बता रहा है ।

वेद अत्यन्त प्रबल शब्दों में सत्य की महत्ता घोषित करता हुआ कहता है—

सत्येनोत्तभिता भूमिः ।

(अ० १४ । १ । १)

भूमि सत्य के सहारे थमी है ।

भूमि सृष्टिमात्र का उपलक्षण है । यदि इस भूमि को मातृभूमि या राष्ट्र अर्थ में लिया जाए तो भाव होगा कि राष्ट्र सत्य के सहारे थमा है । असत्य अलीक है, वह किसी का क्या अवलम्ब, सहारा, आश्रय हो सकता है । नीति विशारदों ने भी सत्य की आवश्यकता को स्वीकार किया है ।

एवं वश्येन्द्रियः परस्त्रीद्रव्यहिंसाश्च वर्जयेत् ॥३॥ स्वप्नं लौल्यमनृतमुद्धतवेषत्वमनर्थसंयोगं च ॥४॥ (कौटल्यकृत अर्थशास्त्र, विनयाधिकारिक, सप्तमाध्याय)

इस प्रकार जितेन्द्रिय होकर राजा पराई स्त्री, पराये द्रव्य तथा हिंसा का त्याग करे । इसी प्रकार अधिक सोना=असावधानता, चञ्चलता, लोभ, लोलुपता, अनृत=झूठ, उद्धतवेष तथा अनर्थ-संयोग का भी त्याग करे ।

मनु महाराज ने भी राज प्रकरण में आदेश किया है—

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥

(७ ३१)

पवित्र, सत्यप्रतिज्ञ, शास्त्र के अनुसार आचरण करने वाला, उत्तम सहायकों वाला, बुद्धिमान् राजा ही दण्ड=न्यायव्यवस्था का ठीक व्यवहार कर सकता है।

स्पष्ट ही राजा को सत्यप्रतिज्ञ होने का आदेश है। इससे राष्ट्रकार्य्य में सत्य की महत्ता असन्दिग्ध रूप से व्यक्त है।

२—बृहत्=महान् तथा महत्वाकांक्षा

राष्ट्र रक्षा के लिये केवल सत्य ही पर्य्याप्त नहीं है। सत्य-प्रसार के लिए बल भी चाहिए। अतः वेद में राष्ट्ररक्षा के लिए सत्य के साथ 'बृहत्' पद का प्रयोग हुआ है। बृहत् का अर्थ है बड़ा। बड़ा बल के बिना नहीं हो सकता।

वेद में कहीं भी ऐसी भावना का संकेत नहीं मिलता जो मनुष्य को नीच या अधम बनने की प्रेरणा करता हो। वेद का तो उद्देश्य ही मनुष्य को ऊपर उठाना है जैसा कि अथर्ववेद ८।१।६ में कहा है—

उद्यानं ते पुरुष नावयानम्

हे पुरुष=नागरिक ! तेरा कर्त्तव्य ऊपर जाना है न कि नीचे गिरना । जब एक साधारण मनुष्य के लिए वेद उद्यान=ऊपर जाने, उठने का उपदेश कर रहा है तो राष्ट्रकर्मियों के लिए तो कल्पना करना कुछ कठिन नहीं है । प्रतिदिन दोनों समय आर्य्य सन्ध्या में भगवान् से प्रार्थना करते हैं :—

अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्

प्रभो ! हम सौ वर्ष की पूर्ण आयु भर अदीन रहें यदि तेरी कृपा से इससे अधिक जीने को मिले तो भी दीन न रहें ।

वेद के पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि वह मनुष्य को वर्त्तमान स्थिति से आगे बढ़ने, ऊपर चढ़ने का उपदेश देता है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्यजन्म सब से उत्कृष्ट है । किसी अन्य प्राणिसमुदाय में वाचाशक्ति नहीं है । वाणी और ज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसी वाणी का यह माहात्म्य है कि मनुष्य ने पाठशालाएं, विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय, विद्याभवन, कलाभवन, सत्संगसभाएँ, समाज आदि विभिन्न संस्थाएं स्थापित कर रखी हैं । वाणी के साथ सहजसंबद्ध ज्ञान का गौरव है कि मनुष्य नित्य नए नए आविष्कार करके अपने तथा अन्य प्राणियों के सुख की स्मृद्धि तथा संवृद्धि का हेतु बन रहा है । मनुष्य की यही विशेषता इसे आगे बढ़ने की प्रेरणा करती है । वेद, मानो इस सत्प्रवृत्ति का अनुवादमात्र कर रहा है जब वह कहता है :—

आरोहणमाक्रमणं जीवतो-जीवतोऽयनम् ।

ऊपर उठना आगे बढ़ना जीवमात्र का लक्ष्य है ।

सीधी सी बात है जल यदि आगे न बढ़े, वहीं रुक जाए तो उसमें सड़ांद उत्पन्न हो जाती है और उसके कारण वह समीपवर्त्तियों के स्वास्थ्य का विघातक बन जाता है। और वह स्वयं अपेय, अग्राह्य हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जो मनुष्य या मनुष्यसमाज अथवा राष्ट्र प्रगतिशील न होकर, आगे न बढ़कर, वहीं रुक जाता है, वह संसार के लिए अस्वास्थ्यकर हो जाता है। जीवित में गति, चेष्टा अवश्य होती है, मृतक चेष्टाशून्य होजाता है। अतएव मृतक पर गिद्ध मंडराने लगते हैं। इसी प्रकार निश्चेष्ट राष्ट्र को मृतक मान कर अन्य राष्ट्र गृध्र की भांति उसे हड़पने के लिये उस पर मंडराने लगते हैं। मृतक को ठिकाने लगाना ही पड़ता है।

एक बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि प्रतिगति=उलटी चाल भी गति है किन्तु वह प्रगति नहीं होने से हितकर नहीं होती। अतः मनुष्य को प्रगति एवं प्रतिगति का विवेचन कर प्रगति के साधनों का उपयोग करना चाहिए।

यहाँ एक प्रश्न होता कि वैदिक धर्मी जब 'Back to the Vedas'—'वेद की ओर वापिस चलो'—का उद्घोष करते हैं तब वे भी प्रतिगति का आदेश करते हुये संसार के संहार का उपदेश करते हैं।

आपाततः इस प्रश्न में बड़ा बल प्रतीत होता है किन्तु थोड़ा सा विवेक का उपयोग करने से इस का थोथापन स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। किसी कारण से मानव वेद से महान् पर्वतसमान

उपदेशालय से मुख मोड़ कर ऊपर चढ़ना छोड़ नीचे उतरना आरम्भ कर बैठा। उससे मानव का महान् अनिष्ट हुआ। अतः वैदिक धर्मी उसे अनर्थ-गर्त में गिरने से बचाने के लिये ललकार कर पुकारता है कि वेद की ओर वापस चलो। उसकी यह ललकार प्रतिगति की नहीं है, प्रत्युत प्रतिगति को हटाकर प्रगति धारण करने का अनुरोध है।

एक और भी प्रश्न यहां उत्पन्न होता है कि जब सभी आगे बढ़ने का प्रयत्न करेंगे तो पारस्परिक ईर्ष्याद्वेष की उत्पत्ति होकर एक दूसरे के संहार में प्रवृत्त हो जाएँगे।

यह आक्षेप भी अविचरितरमणीय है। दूसरे को मार कर ही आगे बढ़ना नहीं होता। विद्यालय में एक अति परिश्रमी विद्यार्थी अपने पुरुषार्थ और अध्यवसाय के बल पर आगे बढ़ता है न कि अपने साथियों की हत्या करके। इसी प्रकार यदि सब मनुष्य एवं प्रत्येक राष्ट्र मानवता को सामने रख कर ज्ञानविज्ञान, कला-कौशल की वृद्धि द्वारा मानव को उन्नत करने में एक दूसरे की प्रतिस्पर्धा करें तो क्या ही उत्तम हो। ऋग्वेद अ०८।६७।१३ में इस बात को इन शब्दों में कहा गया है:—

ये मूर्धानः क्षितीनामदब्धासः स्वयशसः। व्रता रक्षन्ते अद्रुहः॥

जो संसार के शिरमौर, किसी से न दबने वाले, अपने यश के साधन हैं वे किसी से द्रोह न करते हुए व्रतों की रक्षा करते हैं।

संसारहित के लिए अत्यन्त आवश्यक कार्य्यों को वैदिक परिभाषा में 'व्रत' नाम दिया जाता है।

वेद के 'आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम (अ० २।११) [कल्याण प्राप्त कर तथा बराबर वालों से आगे बढ़ जा] उपदेश को इस दृष्टि से देखा जाए तो आगे बढ़ने का महत्त्व सरलता से हृदयङ्गम हो जाए।

अथर्ववेद के दूसरे काण्ड के ग्यारहवें सूक्त के प्रत्येक मन्त्र के अन्त में यह आदेश आया है अतः हम उस सूक्त को यहां उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं। सूक्त को माता पिता अपने बालकों को कण्ठस्थ करालें और अर्थ हृदयस्थ करालें तो अतिशय कल्याण हो। भगवान् ने मनुष्य को कल्याणप्राप्तिपूर्वक बराबर वालों से आगे बढ़ने का उपदेश देते हुए उसकी स्थिति के सम्बन्ध में भी निर्देश दिए हैं, जो व्यक्ति तथा समष्टि, परिवार तथा राष्ट्र के लिए अतीवोपयोगी हैं। वेद जहां मनुष्य को उच्च आदर्श का उपदेश करता है, वहां उसे वास्तविकता की ओर लक्ष्य रखने का भी आदेश करता है। यह बात आपको इस सूक्त के मनन करने से ज्ञात हो जायगी—

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥१॥

तू दुष्टिक्रिया का दूषक=विनाशक है। तू हत्यासाधनों का घातक है, तू वज्र का भी वज्र है। अतः कल्याण प्राप्त कर और अपने जैसों को लांघ जा।

स्राक्त्योसि प्रतिसरोसि प्रत्यभिचरणोसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥२॥

तू प्रगतिशील है। तू विरोधियों के सामने आने में समर्थ है। तू विरोधियों पर आक्रमण करने वाला है, अतः अपने समान लोगों से आगे बढ़ और कल्याण प्राप्त कर तथा करा।

प्रति तमभिचर योऽस्मान्द्वेष्टियं वयं द्विष्मः।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥३॥

जो हम धार्मिक जनों से द्वेष करता है, वैरविरोध करता है और तत्फलस्वरूप जिससे हम धार्मिक लोग अप्रीति करते हैं, उस पर आक्रमण करने की पहल कर। इस उपाय से तू अपने जैसों से आगे बढ़ और कल्याण प्राप्त कर तथा करा।

सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥४॥

तू ज्ञानी है, तू तेजस्वी है, दूसरों को भी तेज देने वाला है। तू शरीर रक्षक है अतः तू समानों से आगे बढ़ तथा कल्याण प्राप्त कर तथा करा।

शुक्रोसि भ्राजोसि स्वरसि ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम् ॥५॥

तू शुक्र=वीर्य्यवान् शीघ्रकारी एवं दीप्तिमय है। तू चमकाने वाला है। तू स्वः=सु–असु=उत्तम स्थिति वाला है। तू ज्योतिः=प्रकाशस्वरूप है। अतः तू समानों से आगे बढ़ और कल्याण प्राप्त कर तथा करा।

इन मन्त्रों पर तनिक विचार कीजिए। इनमें कहीं भी मनुष्य

के दीन हीन होने का आदेश या संकेत नहीं है। वरन् मनुष्य को निम्मलिखित भावों का धारण करने वाला बतलाया गया है :—

मनुष्य ही दुष्ट मनुष्यों एवं प्राणियों की दुष्टता का नाश कर सज्जनता का प्रसार एवं प्रचार कर सकता है। वही शस्त्रास्त्रों का निर्माण कर उनके द्वारा दुष्टों, समाज एवं राष्ट्रविरोधियों का संहार कर सकता है। मनुष्य ही प्रगति करने में समर्थ है। पशुपक्षियों में तो प्रगति करने की योग्यता ही नहीं। प्रगति की योग्यता बतलाते हुये वेद मानों मनुष्य को यह समझा रहा है कि सावधान रह कर आगे बढ़ने का प्रयत्न कर। मूर्खतावश प्रतिगति = उलटी चाल चल कर अपना ह्रास करके कहीं पशु श्रेणि में न जा मिलना। यह मनुष्य ही का कार्य्य एवं सामर्थ्य है कि वह विरोधियों को पहचान कर उनके विरोधाचरण से पूर्व ही उन पर आक्रमण करके उनकी चालों को व्यर्थ कर दे। अथवा आक्रमण होने पर प्रत्याक्रमण करके उनके आक्रमण को विफल कर दे। यह तो सब को प्रत्यक्ष है कि मनुष्य के मार्ग में अनेक बाधाएं एवं विघ्न आते हैं, उनको निराकरण किए बिना कल्याण प्राप्त करना असम्भव है। अतः उसे उचित है कि अभ्युदय तथा निश्श्रेयस के समस्त विघ्नों का नाश करके आगे बढ़ने का प्रयत्न करे। तात्पर्य्य यह है कि प्रत्येक उपाय से उन्नत होने की चेष्टा करे। आगे बढ़ना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म्म एवं कर्तव्य है। आगे बढ़ने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि जो धार्मिक जनों का वैरी विरोधी है, अथवा धार्मिक जन जिससे अप्रसन्न हैं,

उसका सुधार न हो सके, सुधार कर यदि वह समाज एवं राष्ट्र का उपयोगी न हो सके तो फिर उसका बहिष्कार करना ही राष्ट्र एवं समाज के कल्याण का साधन होगा। राष्ट्र के ऐसे हितकर कार्यों के लिए दूसरों की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं वरन् स्वयं उनसे आगे बढ़ कर राष्ट्रहित साधना चाहिए। बहुत से मनुष्य कुसंस्कारवश अपने को दीन-हीन, मूर्ख अज्ञानी मानकर आगे बढ़ने से संकोच करते हैं, ऐसों को वेद उपदेश करता है कि आत्मा अज्ञानी नहीं होता, वरन् ज्ञानी=सूरि होता है, वेद में अन्यत्र भी [य० ३४-५] कहा गया है—

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥*

जिसमें चारों वेद ऐसे रहते हैं जैसे रथ के धुरे में आरे और जिसमें सम्पूर्ण जन्य पादर्थों का ज्ञान ओत-प्रोत रहता है। वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो। जिसमें सकल ज्ञान हो अथवा धारण करने की योग्यता हो, वह अज्ञानी कैसे ? और वह क्यों अपने को अज्ञानी समझे। जिसमें ज्ञान होता है, उसमें वर्चस्= तेज का होना भी आवश्यक है। तेजस्वी एवं ज्ञानी अपने तथा पराये शरीरों की रक्षा कर सकता है। वेद ने अपनी मधुर शैली से मनुष्य को शरीरोन्नति का संकेत कर दिया है। मनुष्य को तनू-

---

*इस मन्त्र का शब्दार्थ लेखक के लिये 'स्वाध्याय संग्रह' में देखना चाहिये।

पान=शरीररक्षक कह कर एक विशेष आदेश दिया है कि यह शरीर कार्यसाधक है, अतः सर्वथा संरक्षणीय है। इसके ह्रास करने का तुझे अधिकार नहीं है। जो मनुष्य शरीर का संरक्षण, संवर्धन न करके उसका ह्रास, विनाश या उपेक्षण करते रहते हैं, वे समाज तथा राष्ट्र अथच संसार के शत्रु होते हैं। दुर्बलों को मारने की प्रवृत्ति सब में जाग जाया करती है। दुर्बल को सभी दबाने को उतारू हो जाया करते हैं और उसके कारण झगड़े, कलह एवं युद्ध हुआ करते हैं। अतः दुर्बल होना महापाप है क्योंकि दुर्बलता के कारण समाज एवं राष्ट्र की शान्ति में बाधा पड़ती है। जो स्वयं दुर्बल है वह दूसरों की रक्षा क्या करेगा? अतः मनुष्य को योग्य है कि वह सर्व प्रकार से सबल होकर अपनी तथा पराई रक्षा के लिये आगे बढ़े। जब अपनी तथा पराई रक्षा के भाव से प्रत्येक मनुष्य आगे बढ़ने का यत्न करेगा, तब ईर्ष्या द्वेष का विनाश होकर जनहित करने की प्रबल प्रतिस्पर्धा उत्पन्न होगी जिससे संसार अभिराम सुखधाम बन जाएगा। मनुष्य सचमुच बलवान् है अतः उसमें ज्ञान एवं ज्ञानार्जनकी योग्यता है। ज्ञानवान् के बलवान् होने में सन्देह ही नहीं है। कहा भी है—

नास्ति ज्ञानसमं बलम्=ज्ञान के समान बल नहीं है। ज्ञान और तेज के साथ मनुष्य की स्थिति सुधरती है। संसार के सब पदार्थों पर दृष्टि डाल जाइये। एक से एक उत्तम, भव्य, मनोहर, तेजस्वी पदार्थ विद्यमान हैं किन्तु क्या कोई पदार्थ मनुष्य की समता कर सकता है? विचार से देखा जाय तो सभी पदार्थ

मनुष्य के उपयोग के लिये हैं। उपयोज्य उपयोक्ता से श्रेष्ठ कैसे ? इसी कारण वेद में मनुष्य को जीवधन्य कहा गया है। जीव-धन्य ही सचमुच स्वः=सु-अस्=उत्तम स्थिति वाला है। मनुष्य की रचना मनुष्य में भाषा एवं ज्ञान की विद्यमानता उसकी स्थिति को सब से ऊंचा बनाते हैं। ऊंची स्थिति वाले की ज्योति सर्वत्र फैलनी चाहिये। इस वास्ते मनुष्य को स्वपरहितकारी कार्य्यों के लिए आगे बढ़ना चाहिए। इससे उसकी यशोज्योति सर्वत्र प्रसृत होगी। आगे बढ़ने में ही कल्याण है।

ऊपर के निर्देशों पर विचार करने से मनुष्य के सम्बन्ध में वेद की विचारधारा सरलता से हृदयङ्गम हो सकती है। जिस समाज या राष्ट्र में बाल्यावस्था से ही, माता के दूध के साथ बालकों के हृदय में यह भाव भरे जाते हों, उस समाज या राष्ट्र के हीन होने की सम्भावना ही नहीं हो सकती।

जब से संसार ने वेद का त्याग किया, तब से संसार में हीनता के भाव उत्पन्न हुए और मनुष्य जाति अधोगति को प्राप्त होने लगी। यदि मनुष्य को उन्नत होने की अभिलाषा है तो वेद के इन भावों को अपनाना होगा। अर्थात् वेद की ओर वापिस जाना होगा, यह प्रतिगति नहीं प्रत्युत प्रतिगति की प्रतिगति अर्थात् प्रगति होगी।

आगे बढ़ने का अर्थ है कि मनुष्य वर्त्तमान स्थिति से आगे बढ़े। देखिए वेद (अ. ८-१-४) कितने ओजस्वी शब्दों में मनुष्य को आगे बढ़ने की प्रेरणा करता है—

उत्क्रामातः पुरुष मावपत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः ।
माच्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य सन्दृशः ॥

हे पुरुष=नागरिक Citizen ! इस स्थान-स्थिति-अवस्था से आगे बढ़, पीछे, नीचे मत गिर । एक बार मृत्यु की पकड़ को भी पछाड़ दे । सूर्य और अग्नि के दर्शन कराने वाले इस लोक से मेरा सम्बन्ध न टूटे ।

कितनी प्रबल प्रेरणा है ! प्रतिगति का कितना प्रतिरोध है ! मौत से जूझने तक की ललकार है । विशेष बातें जो इस मन्त्र में मनन करने की हैं वह यह हैं कि इस संसार को हीन समझ कर इसे त्यागने, छोड़ने का उपदेश नहीं है, जो इस संसार को हीन-मलीन समझते हैं, वह इस से सम्बन्ध कैसे रख सकते हैं, इसकी उन्नति के लिये क्या कर सकते हैं ? वेद कहता है इस लोक में सूर्य तथा चराचर के आत्मा परमात्मा के दर्शन होते हैं, इस लोक में आगे बढ़ने के साधन मिलते हैं, अतः इस लोक से सम्बन्ध न तोड़ ।

जो लोग कहा करते हैं, वेद इस लोक की बात नहीं बताता प्रत्युत इस लोक की उपेक्षा की शिक्षा देता है, वे इस मन्त्र का विचारपूर्वक मनन करें । उनकी भ्रांति दूर हो जाएगी ।

वेद वर्तमान स्थिति पर सन्तुष्ट रहने का उपदेश न देकर उस से आगे बढ़ने का उपदेश कर रहा है । Change for the sake of change परिवर्तन के लिये परिवर्तन—नहीं, वरन् For the

sake of better अच्छाई के लिये परिवर्तनका आदेश वेद करता है। इसका विशेष मनन करने की आवश्यकता है।

राष्ट्र सेवा करने वाले के प्रति वेद का जो उपदेश है, उसे देखिए और फिर विचारिये। वेद कहता है—

ऊर्जे त्वा बलाय त्वौजसे सहसे त्वा।
अभिभूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्य्यूहामि शतशारदाय॥

(अ० १९-३७-३)

तुझे ऊर्क्=जीवन के लिये, बल के लिये, ओज के लिये, सह=सामर्थ्य (दबाने का सामर्थ्य) के लिए, शत्रुओं को दबाने के लिये और अतः सम्पूर्ण आयु राष्ट्रपालन के लिये आदेश करता हूं, प्रेरित करता हूँ।

भगवान् के उपदेश अत्यन्त स्पष्ट होते हैं, उनमें सन्देह, संशय का अवकाश नहीं होता। देखिए राष्ट्र भृत्य=राष्ट्रपालनके लिए ऊर्क्= जीवन,जीवट, रसग्राहिता,बल, ओज=आतङ्क,परधर्षणसामर्थ्य एवं शत्रुओं को अभिभव करने की भावना एवं शक्ति की आवश्यकता बतलाने के लिए 'ऊर्जे'—क्रमपूर्वक इन साधनों का विधान किया है। राष्ट्रपालन हीन दीन क्षीण जनों का, मरियल मनुष्यों का मृतकहृदय मानवाकारों का कार्य्य नहीं, वह तो प्रबल शक्ति-सम्पन्नों तेजस्वियों, महौजस्वियों का कार्य्य है, अतः राष्ट्र के लिए महान् बनना अनिवार्य है।

जैसे इस मन्त्र में राष्ट्रभृत्य के लिए तेजस्विता धारण करने का उपदेश है, इसी भांति अन्यत्र भी वेद में कहा है—

उच्छ्रयस्व महते सौभगाय ।

महान् सौभाग्य के लिए उन्नत हो, बड़ा बन।

स्वतन्त्रता, स्वाधीनता, निर्भयता के अतिरिक्त और बड़ा सौभाग्य इस जगत् में क्या हो सकता है।

राष्ट्र एवं समाज की रक्षा के लिए मनुष्य में मन्यु=विचार-पूर्वक क्रोध का होना अनिवार्य्य है। जब मनुष्य में समाजद्रोही के प्रति मन्यु नहीं होगा, वह उसके निवारण के लिये प्रयत्न ही कैसे करेगा ? अतः कुरीतियों, व्यसनों, समाज, राष्ट्र तथा मानवता के विरोधी भावों एवं साधनों के प्रति मनुष्य में क्रोध का होना अत्यन्त आवश्यक है। इस भाव को लक्ष्य में रखकर वैदिक वीर कहता है :—

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्युः ।
भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप निलयन्ताम् ॥

अ० ४।३१।७

धन एवं मृत्यु को जोड़ लिया गया है, इनको एक कोटि का समझ कर वरुण=श्रेष्ठभाव एवं मन्यु=पाप के प्रति क्रोध-भाव ने हमारे लिए इनको धारण कराया है। शत्रु हमारे इन भावों से हृदय में भयभीत होकर पराजित होकर, हार की मार खा कर छिप जायें, विलीन हो जायें, भाग जाएं।

यदि राष्ट्रविरोधियों को पराजित कर लिया जाए तो राष्ट्ररूपी संपत्ति धन है। यदि दुर्बलता या किसी अन्य कारण से हम हार गए। तो वही मृत्यु=निधन है। हमारी हार न हो इसीलिए हम

ने श्रेष्ठभाव=समाज एवं राष्ट्र की रक्षा के भाव तथा राष्ट्रद्रोहियों के प्रति क्रोध को धारण किया है। हमारा क्रोध इतना प्रचण्ड होना चाहिये कि शत्रुओं को हारने, भागने, विलीन होने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही न सूझे।

क्या यह बड़ा बने विना, महत्त्वाकांक्षा किए विना सम्भव है?

वेद की इन शिक्षाओं को धारण करने वाला मनुष्य ही कह सकता है कि:—

मयिक्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद्रयिम्।
अहंराष्ट्रस्यांभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः॥

अ० ३।५।२

हे पालक श्रेष्ठ! मुझ में क्षत्रशक्ति=पीड़ित की रक्षयशक्ति है, वह शक्ति मुझ में धन संपत्ति का धारण करा रही है। इस क्षत्रशक्ति के कारण मैं राष्ट्र के अभिवर्ग में अपना होकर उत्तम बन सकूंगा।

राष्ट्र रक्षकों का जो अभिवर्ग [=राष्ट्रहित को अभिमुख रखकर बनाया गया वर्ग] है। उसमें सम्मिलित होकर अपना बनना और वह भी श्रेष्ठ बनना प्रत्येक राष्ट्रीय का कर्तव्य है। कितनी उदात्त भावना है।

जो मनुष्य वेदकी इन शिक्षाओं को जीवन में धारण कर लेता है, वह भगवान् से प्रार्थना करता है कि—

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम्॥

अ० १६।३।१

नाभिरहं रयीणां नाभिः समानां भूयासम् ॥

अ० १६।४।१

मैं हितरमणीय पदार्थों में शिरमौर हूं।
अत एव मैं अपने जैसों का शिरोमणि बनूं ॥
मैं हितरमणीय पदार्थों का केन्द्र हूं।
अत एव मैं अपने जैसों का नाभि=केन्द्र बनूं ॥

कितने भव्यभाव हैं। अपने जैसों का शिरोमणि तथा केन्द्र बनने की कामना है, भाव यह कि साथी मेरा अनुवर्त्तन करें।

कोई भी मनुष्य, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, सर्वगुणसम्पन्न नहीं हो सकता। कोई किसी गुण में उत्कर्ष प्राप्त करेगा, तो कोई किसी अन्य में श्रेष्ठ बनेगा। अपने इन श्रेष्ठगुणों के कारण वे सब शिरोमणि बनकर एक दूसरे का हित साधन करेंगे।

वेदोपदिष्ट उपर्युक्त भावों को मनसा, वचसा, वपुषा धारण करने वाला वीर पुरुष पूर्णरूप से निर्भर होकर कह सकता है :—

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥

अ० १६।५१।१

मैं अयुत=दस सहस्र के तुल्य हूं। मेरा आत्मा, शरीर, मन भी अयुत हैं। मेरी आंख अयुत है, मेरा कान अयुत है, मेरा प्राण अयुत है, मेरा अपान अयुत है। मेरा व्यान अयुत है। मैं हूं सारा का सारा अयुत।

जिस वीर के हृदय के भीतर ऐसी दबङ्ग उमङ्ग कार्य कर रही हो, वह पूर्ण विश्वास के साथ कह सकता है कि :—

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभिषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥

अ० १२।१।५४

अश्व इव रजो दुधुवे वितान् जनान्,
य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत ॥

अ० १२।१।५७ पू०

मैं सर्वश्रेष्ठ होकर पृथिवी में राष्ट्र में शत्रुविरोध को सहन करने में समर्थ हूँ। मैं सन्मुख जाकर शत्रुमर्षण कर सकता हूँ। मैं विश्वाषाट्=सर्वसह हूँ। प्रत्येक दिशा में मैं विशेषरूप से निरन्तर शत्रुमर्षक हूँ॥ जिस प्रकार घोड़ा धूली को झाड़ देता है, उसी प्रकार मैं उन सब जनों को कंपा देता हूं जो हमारी न्याय-प्राप्त इस पृथिवी=राष्ट्रसंपत्ति को भोग करते हैं।

जब तक प्रत्येक राष्ट्रीय=राष्ट्रवासी, राष्ट्रहित चिन्तक के हृदय में ऐसे ओजस्वी भाव उत्पन्न नहीं होते, तब तक उस राष्ट्र की रक्षा हो ही नहीं सकती। इसके लिए आवश्यक है कि प्रत्येक राष्ट्रवासी के हृदय में राष्ट्र के प्रति ममता की भावना जागरित की जाए। क्योंकि पराए पदार्थ के लिए साधारणतया लोग चिन्ता नहीं किया करते। अपने पदार्थ की रक्षा के लिए मनुष्य सदा। सर्वदा तत्पर रहा करते हैं। मनुष्य में राष्ट्र के प्रति ममता का भाव उत्पन्न करना ही पर्याप्त नहीं है प्रत्युत उसमें यह भावना

उत्पन्न करनी चाहिए कि वह समर्थ है, प्रबल है, शक्तिशाली है। अर्थात् वह कह सके कि—

अभिभूर्यज्ञो अभिभूरग्निरभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः।
अभ्यहं विश्वा पृतना असान्येवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः॥

अ० ६।९७।१

जैसे यज्ञ अभिभू :=सब को दबाने वाला है, जैसे अग्नि अभिभू है, जैसे सोम [चन्द्र, अथवा सर्वोत्तम औषधी, अथवा सर्वोत्तम ब्रह्मानन्द रस] अभिभू है, जैसे सूर्य्य अभिभू है, ऐसे ही मैं भी सब पृतनों=फितनों=उपद्रवों का अभिभव कर सकूं। अतः हम अग्निहोत्री [अग्निविद्या के व्यावहारिक ज्ञान-सम्पन्न] इस हवि=व्यवहार को करते हैं।

जिन में दबाने का भाव न हो, वे दबा करते हैं, मरा करते हैं। किन्तु वैदिकों का तो यह आदर्श नहीं। वैदिक तो कहता है— सूर्य्यस्यावृतमन्वावर्ते मैं सूर्य की चाल का अनुवर्त्तन करता हूं। सूर्य्य के उदय होने पर चन्द्र, नक्षत्र तारे सब लुप्त हो जाते हैं:—

यथा सूर्य्यो नक्षत्राणामुद्यँस्तेजांस्याददे।
एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे॥

अ० ७।१३ (१४)।१

जैसे उदय होता हुआ सूर्य्य नक्षत्रों के तेज को छीन लेता है, दबा देता है, ऐसे ही मैं राष्ट्रद्वेषी स्त्री पुरुषों के तेज को दबा देता हूं, छीन लेता हूं।

जब यह भाव जागते हैं और ऐसा सामर्थ्य आ जाता है, तब राष्ट्रीय कह सकता है—

सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि ।

अ० ३।८।२

मैं सहोत्पन्नों=साथियों का मध्यमेष्ठा=मध्यस्थ=केन्द्र हो जाऊं। यह महत्त्वाकांक्षा की पराकाष्ठा है ।

(३) ऋत=सृष्टि नियम

सत्य को समझने और महत्त्वको पाने के लिए ऋत=सृष्टि नियम का जानना, समझना तथा तदनुकूल वर्त्तना अनिवार्य है, अतः सत्य और बृहत् के साथ ऋत का ग्रहण किया गया है ।

वेद में प्रायः सर्वत्र पहले ऋत आता है उसके पश्चात् सत्य आता है। जैसे

'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्'—

(ऋ० १०।१६०।१)

यहां ऋत से सत्य को पहले रखा है। इसका विशेष प्रयोजन है। सत्य और बृहत् को पृथक् न मानकर एक मान लिया जाए तो भाव होगा—सत्य महान् है। इसी प्रकार ऋत और उग्र को एक मान कर कहना पड़ता है कि ऋत उग्र है। पृथक् पृथक् मानने की दशा में यह भाव है कि सत्य से महान् बनता है और ऋत से उग्र बनता है। ऋत स्वयं उग्र है, विकट है। देखिए, वेद कहता है—

को अद्य युंक्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून् ।

असन्नेषामप्सुवाहो मयोभून् य ऐषां भृत्यामृणधत्स जीवात् ॥

(सा० पू० ४।१।५।१०)

कौन इस जीवन में ऋत की क्रियाकुशल, तेजस्वी, कठिनता से हटाई जा सकने वाली गतियों को मुक्त करता है। इनका सामर्थ्य कर्म्म करने में कुशलता देने वाला तथा सुखसाधक है। जो इनकी भृत्या=पालनपोषण घटाता है [या बढ़ाता है] वह जीता है। ❀

ऋत की शक्तियों को "क्रियाकुशल, तेजस्वी, तथा दुर्हृणायु=कठिनता से हटाई जा सकने वाली कहा गया है।" वास्तव में यह ऋत की ही प्रशंसा है। किसी के पुत्र की प्रशंसा का भाव पिता की प्रशंसा होता है। शिष्य की स्तुति का तात्पर्य गुरु की महत्ता दिखलाना होता है। यहां भी ऋत की शक्ति की महत्ता द्वारा ऋत की उग्रता दर्शाना है।

ऊपर कहा जा चुका है कि सृष्टिनियम का नाम ऋत है। आओ, तनिक देखें, ऋत क्या करता और कैसा है :—

(क) ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक स्थलों पर आता है—'अग्नीषोमीयं जगत्'—यह संसार आग पानीका मेल-खेल है। अर्थात् इस जगत् में यह दो प्रधान तत्त्व हैं। सूर्य्य आग का गोला है, पृथिवी में तीन चौथाई से अधिक जल है, अन्तरिक्ष में वाष्प के रूप में जल का महान् समुद्र है।

❀ इस मन्त्र की विशेषव्याख्या लेखक के 'स्वाध्याय-सुमन' में देखिए।

किन्तु ये दोनों तत्त्व एक दूसरे के वैरी हैं; विरोधी हैं। आग पानी को जलाती है पानी आग को बुझाता है; यह सब को प्रत्यक्ष है। जगद्विधाता ने इन दोनों निसर्ग विरोधियों को मिला कर अद्भुत सृष्टि रच डाली है। इनके स्वभावों में परिवर्त्तन किए विना दोनों को एक दूसरे का सहकारी बना कर संसार का उपकारी बना दिया है। अर्थात् दोनों की शक्तियों को नियन्त्रित कर दिया है। सूर्य्यरूप अग्नि अपने उत्ताप से पानी को सुखा कर वाष्प बना कर ऊपर खींच लेता है। सूर्य के उत्ताप से तपती झुलसती, वासियों के लिए असह्य हुई भूमि पर मेघ वृष्टि बरसा कर भूमि को जीवन प्रदान कर देता है। वेद [अ० ११।४।५।१७] में बहुत सुन्दर शब्दों में वृष्टि की इस क्रिया का फल वर्णन किया गया है :—

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद्वर्षेण पृथिवीं महीम् ।
पशवस्तत्प्रमोदन्ते महो वै नो भविष्यति ॥
यदा प्राणो अभ्यवर्षीद्वर्षेण पृथिवीं महीम्
औषधयः प्रजायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः ॥

जगत् का प्राणस्वरूप मेघ जब इस विशाल पृथिवी पर वृष्टि को बरसाता है, तब पशु-जीवधारी प्रसन्न होते हैं कि हमारा भला होगा ॥ जब संसार का जीवनाधार जीमूत इस विस्तृत भूमि पर वृष्टि के साथ बरसता है तब औषधियां तथा हर प्रकार की लताएं आदि उत्पन्न होती हैं।

भाव यह कि वृष्टि=जल जगत् के जीवन का हेतु है। तब

क्या अग्नि के बिना हम जीवित रह सकते हैं ? असंभव । सूर्य्य को वेद में—**सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च** (य० १३।४६) [सूर्य्य चर और अचर का जीवनाधार है ।] स्थावर जङ्गम् चर और अचर संसार का आत्मा=जीवनाधार कहा गया है । जिस प्रकार आत्मा के शरीर से निकल जाने पर शरीर मृतक हो जाता है, बेकार होजाता है । ऐसे ही सूर्य्य के अभाव में प्राणी अप्राणी सब का जीवन संकट में पड़ जाता है । जब लगातार कई दिन आकाश में बादल घिरे रहते हैं, सूर्य्य के दर्शन नहीं होते हैं तब कितनी ग्लानि एवं म्लानि होती है । तात्पर्य्य यह कि आग पानी दोनों जगज्जीवन के लिए आवश्यक हैं । सूर्य्य के विना भी जीवन असंभव है तथा जल के बिना भी प्राणधारण की संभावना नहीं । इसी लिए भगवान् ने दोनों को नियन्त्रित एवं समयानु-सार उन की प्रखरता और मृदुता का विधान किया है । इसी भांति राष्ट्र रक्षा के लिए भी तिग्मता मृदुता की आवश्यकता है, जैसा कि एक नीतिकार ने कहा है—

समवृत्तिरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम् ।
अधितिष्ठति लोकमोजसा स दिवस्वानिव मेदिनीपतिः ॥

किरातार्जुनीय २ । ३८

तुल्य स्वभाव वाला होकर जो आवश्यकता पड़ने पर मृदुता तथा समय आने पर तीव्रता को धारण करता है, सूर्यसमान वह राजा अपने तेज से संसार पर अधिकार करता है ।

(ख) शरीर को देखिए, इस में जो रुधिर बह रहा है वैज्ञानिक चिकित्सक इस में दो प्रकार के रुधिर कणों की सत्ता बतलाते हैं। एक श्वेत तथा दूसरे रक्त कण। एक प्रकार के कण रोग बीजों से युद्ध करने में तत्पर रहते हैं। ज्योंही कहीं कोई रोग बीज शरीर में प्रकट हुआ कि इन कणों ने उस पर आक्रमण किया। यदि शरीर में इन कणों की मात्रा न्यून हो जाए, तो शरीर रोगाक्रान्त हो जाता है। शरीर के अन्दर की यह क्रिया स्पष्ट निर्देश कर रही है कि आक्रमण शक्ति के बिना व्यक्ति का भी जीवन सुरक्षित नहीं रह सकता, समष्टि की तो बात ही क्या है। अतः जो समाज या राष्ट्र आक्रमण साधनों के संचय करने में प्रमाद करता है या उन से विमुख रहता है उस के ह्रास तथा नाश में कोई सन्देह नहीं।

(ग) इसी प्रकार शरीर में एक और अद्भुत खेल हो रहा है। शरीर में जलीय अंश बहुत अधिक मात्रा में है। साथ ही अग्नि तत्त्व भी कार्य्य कर रहा है। जलीय अंश की न्यूनता हो जाय तो मृत्यु तक की संभावना होती है। इसी भांति यदि अग्नितत्त्व घट जाए तो भी मृत्यु के दूत प्रभूत मात्रा में आते हैं। जाठराग्नि कम हो जाए, तो खाया पिया उचित रीति से पचता नहीं। इस से शरीर का हित नहीं होता।

शरीर की ये प्रक्रियाएं बता रही हैं कि संरक्षण एवं आक्रमण सामर्थ्य, तिग्मता एवं मृदुता का आनुपातिक समतुलन रखना आवश्यकरूप से अनिवार्य्य है।

(घ) प्राणिशास्त्र (Biology) के पण्डित बताते हैं कि प्रत्येक प्राणी में आत्मसंरक्षण (Self protection) तथा आत्मवर्धन (Self procreation) की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। आत्म-संरक्षण के लिए नितान्त आवश्यक है कि विजातीय द्रव्यों को, अनुपयोगी पदार्थों को शरीर से बाहर कर दिया जाए। ऐसा करना स्वाभाविक ही है। आत्मसंरक्षण के लिये दूसरों के साथ संग्राम भी करना पड़ता है। आत्मसंवर्धन द्वारा अपने सजातीयों की वृद्धि की जाती है। प्राणिजगत् में कार्य्य कर रहा यह निसर्ग-नियम मनुष्य, मनुष्य समाज एवं राष्ट्र को आत्मसंरक्षण एवं आत्मसंवर्धन के लिये चेतावनी दे रहा है। अर्थात् आत्मसंवर्धन द्वारा अपने पक्ष की पुष्टि करो। अधिक से अधिक जनों तथा राष्ट्रों को अपने पक्षपोषक बनाओ तथा आत्मसंरक्षण के लिये सभी उचित और न्याय्य उपायों का संकलन करो। तनिक विचार से देखा जाए तो आत्मसंवर्धन भी वास्तव में आत्मसंरक्षण के लिए ही है। जितने आत्मीय अधिक होंगे, उतना ही दूसरों से भय कम होकर संरक्षण, सुरक्षण की सुविधा रहेगी।

(ङ) सांख्यशास्त्र के अनुसार यह जगत् सत्त्व, रजस् तथा तमस् से बना है, सत्त्व का स्वभाव है लघुत्व=हलकापन तथा प्रकाश; रजस् में चञ्चलता=क्रियाशीलता तथा तमस् में गत्य-भाव= क्रिया का अभाव तथा अन्धकार होता है। इन परस्पर विरोधी धर्म्मवाले पदार्थों से इस संसार की रचना हुई है। जगत् का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो केवल सत्त्व, केवल

रजस् या केवल तमस् का परिणाम हो। सभी पदार्थों में तीनों के अंश अवश्य होते हैं। जब जगत् प्रकाश क्रिया एवं अन्धकार के संमिश्रण का परिणाम है तो जगतस्थ कैसे केवल सात्त्विक हो सकते हैं। इसी कारण ज्ञानियों ने कहा है :—

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। (गीता ३।५)

कोई क्षणभर भी निचल्ला निठल्ला नहीं रहता। क्रिया तो स्वभाव है। चेतन का स्वभाव ही क्रिया करना है। चेतन की पहचान ही क्रिया है—चाहे वह सुक्रिया हो चाहे कुक्रिया। क्रियाशून्य को जड़ या मृतक कहते हैं। कोई चेतन मरना नहीं चाहता, अतः वह जीवन रक्षण के लिये सभी प्रकार की अपेक्षित क्रियायें करता है। उन क्रियाओं में जहां भोजन द्वारा शरीर में पदार्थ डालने की क्रिया हो रही है। वहां मलमूत्र के उत्सर्ग द्वारा शरीर के अहितकर पदार्थों का निष्कासन=बाहर निकालना भी हो रहा है। इसी प्रकार शरीर पर जब कोई विरोधी जीव जन्तु आजाते हैं तो उनके हटाने मारने वारने की भी प्रबल चेष्टा होती है। इस से सिद्ध हुआ कि सभी प्रकार के साधनों का संचय करते हुये क्रियाशीलता अर्थात् रजस् का भी समाज शरीर या राष्ट्रदेह में संकलन करना अपरिहार्य्य है तथा उस रजस् का उचित उपयोग भी अवश्य करना चाहिए। फलित अर्थ यह निकला कि जीवन के लिए केवल उचित सात्विकता ही उपयोगी नहीं, प्रत्युत केवल सात्विकता के अर्थ हैं शरीर का संहार, क्योंकि रजस् तथा तमस् के विनाश कर देने से रचना, संघटना की समाप्ति होकर विघटना हो जायगी। विघटना ही मृत्यु है।

Scanned with CamScanner

जिस प्रकार मलमूत्र का निष्कासन न करने से शरीर में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होकर शरीर विनष्ट हो सकता है इसी प्रकार समाज या राष्ट्र से अहितकर विजातीय द्रव्यों को न निकालने से समाज या राष्ट्र का विनाश अवश्यम्भावी है।

इस प्रकार अनेक प्राकृतनियमों का उल्लेख किया जा सकता है। उन सब में विजातीय निष्कासन एवं विरोधिसंहार का सिद्धान्त नितान्त कार्य्य कर रहा दीख पड़ता है। ऋत=सृष्टिनियम से हमें सत्य का, अनुष्ठान का ज्ञान मिलता है। उससे हम अपने अमङ्गल के हेतुओं को दूर कर सकते हैं इसी वास्ते वेद कहता है:—

ऋतस्य हि शुरुधः सन्तिपूर्वीः ऋतस्य धीतिर्वृजिना निहन्ति।
ऋतस्ये श्लोको बधिरा तत्दर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥

ऋत की हिंसक शक्तियां पूर्व से सनातन से हैं, ऋत का मनन चिन्तन विचार वृजिनों=वारण करने योग्य, हटाने योग्य हेतुओं का नाश करता है; विचार किया जाता हुआ ऋत का श्लोक=श्रवण, कीर्त्तन मनुष्य के बहिरे कानों को भी खोल देता है।

सचमुच ऋत बहुत प्रबल है। ऊपर के दृष्टान्तों से ऋत के बल का दिग्दर्शन कराया जा चुका है। वेद में ऋत की महिमा बहुत बहुत और सत्य सत्य कही गई है। देखिए, ऋत रक्षक= ऋतानुसारी के सम्बन्ध में वेद ने कितना सुन्दर कहा है—

ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुस्त्री ष पवित्रा हृद्यन्तरा दधे।
विद्वान् स विश्वाभुवाभि पश्यत्यवाजुष्टान् विध्यति कर्ते अव्रतान्॥

(ऋ० ६। ७३। ८)

ऋत का रक्षक सुकर्मा किसी से नहीं दबता क्योंकि वह अपने हृदय में तीन पवित्रों को धारण कर रहा है, वह ऋत ज्ञानी संपूर्ण भुवनों को सामने देखता है, विरोधियों को बींध देता है और अव्रतों को व्रतयुक्त कर देता है।

ऋत का रक्षक सचमुच सुक्रतु=सुकर्म्मा है। विचार से देखा जाए तो ऋत रक्षा से बढ़ कर और कोई सुकर्म्म ही नहीं है। उसके हृदय में भगवान् विराजमान हैं, उसके हृदय को जीव अपनी अजस्र ज्योति से ज्योतिष्मान् कर रहा है और उसके हृदय को ऋत अपने द्युम्न=प्रकाश से द्योतित कर रहा है। वेद [ऋ० ६। ११३] कहता है—**ऋतं वदन्नृतद्युम्न** ऋत का प्रवचन करने वाला ऋत से चमक उठता है। ऋत रक्षक बहुत बड़ा ज्ञानी होता है, उसकी दृष्टि के सामने सभी लोक लोकान्तर होते हैं, अर्थात् वह संपूर्ण लोक मर्यादाओं और लोक व्यवस्थाओं को हर समय अपने सामने रखता है। जो ऋत विरोधी हैं उनका सुधार करने, यदि वह संभव न हो तो संहार करने में भी यह संकोच नहीं करता। जो व्रत रहित हैं, सत्कर्मविहीन हैं, उन्हें सव्रत कर सकता है।

ऋत रक्षक की यह प्रशंसा अर्थवाद नहीं है, यथार्थ है। जो जातियां ऋत की अवहेलना-उपेक्षा करती हैं, वे संसार में अपनी स्थिति खो बैठती हैं। ऋत व्यक्ति तथा समष्टि के लिए एक समान उपयोगी एवं आवश्यक है। इसीलिए वेद [ऋ० ५।१२।२] में आदेश है—

**ऋतं चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्ध्य् ऋतस्य धारा अनुतृन्धि पूर्वीः ।
नाहं यातुं सहसा न द्वयेन ऋतं सपाम्यरुषस्य वृष्णः ॥**

हे ऋत के ज्ञाता ! ऋत ही का चिन्तन कर। ऋत की सनातन धारा-प्रवाह के अनुकूल व्यवहार कर। [भगवान् कहते हैं] मुझे देख, न मैं अव्यवस्था से और न दोगलेपन=संकरता से व्यवहार करता हूं। शक्तिशाली सुखवर्षक सर्ग के ऋत को ही पालता हूँ, धारता हूं।

ऋत की धारा, ऋत का प्रवाह सनातन है, केवल आज का, या किसी का कल्पित नहीं है। वह तो सर्वदा से सर्वत्र व्याप्त है। यजुर्वेद ३२। में कहा भी है—**ऋतस्य तन्तुं विततम्** ऋत का तार सर्वत्र फैला हुआ है, उसको **विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्** खोल कर यदि उसे देखता है, तो वैसा हो जाता है क्योंकि है ही वैसा अर्थात्, ऋत स्वरूप। जीव की सत्ता न भी मानी जाए, तब भी मानना पड़ता है कि शरीर रचना ऋत से हुई है। इस दृष्टि से वेद का **तदासीत्** कहना सर्वथा यथार्थ है। जब मनुष्य ऋत स्वरूप है तो उसे ऋत का स्वरूप जानना पहचानना नितान्त आवश्यक है। विद्वान् की तो पहचान यह है कि ऋतानुगामी हो जैसा कि अ० १७। १। १६ में कहा है—

ऋतस्य पन्था मन्वेपि विद्वान्—विद्वान् ऋत के मार्ग का अनुसरण करता है।

ऋत ज्ञान के लिए अन्य राष्ट्रों की व्यवस्थाओं तथा चेष्टाओं का जानना भी आवश्यक है। यह बताया जा चुका है कि आत्म-

संवर्धन के लिए अनुकूल का संग्रह और प्रतिकूल से विग्रह स्वाभाविक है। कौन व्यक्ति, समाज या राष्ट्र हमारे अनुकूल है और कौन कौन प्रतिकूल है, इस के जाने बिना यथार्थ, उचित, व्यवस्थित व्यवहार का हो सकना नितान्त असम्भव है। सत्य का मूल ऋत है। अतः राष्ट्ररक्षा के लिए परकीय चेष्टाओं एवं मनोभावों का जानना नितान्त प्रयोजनीय है, उसके लिए राष्ट्र को सुव्यवस्थित गुप्तचर विभाग, दूत विभाग आदि की स्थापना करनी होगी। जिस राष्ट्र में ऋत का ऐसा अनुष्ठान नहीं होता, वह जीवित नहीं रह सकता। जीवित व्यक्तियों से बना राष्ट्र जीवित ही होना चाहिए।

ऋत का पालन करने वाला मनुष्य किसी भी प्रकार की हानि नहीं उठाता। वेद कहता है—

ऋतेन गुप्त ऋतुभिश्च सर्वैर्भूतेन गुप्तो भव्येन चाहम्।
मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्युरन्तर्दधे सलिलेन वाचः॥

(अ० १७। १। २६)

मैं ऋत से रक्षित हूं। सब ऋतु=ऋत विधान मेरी रक्षा करते हैं। भूत तथा भव्य=भविष्यत् मेरी रक्षा में तत्पर हैं। अतः मुझे पाप तथा मृत्यु प्राप्त नहीं हो सकते। मैं बातों को क्रिया से छिपाता हूं।

ऋत जिसकी रक्षा करे, ऋतु तो स्वतः ही उसकी रक्षा करेंगे। ऋत से रक्षित होने के लिए भूत अर्थात् इतिहास के अध्ययन, मनन, चिन्तन से अपने वर्त्तमान तथा भविष्य के निर्माण में सावधान मनुष्य को कोई पाप लग ही नहीं सकता। अर्थात् उससे

भूल नहीं हो सकती, वह राष्ट्रीय विघातक कार्य्य नहीं कर सकता। ऋतानुसारी, ऋतुगामी को पूर्ण आयु से पूर्व मृत्यु भी प्रायः नहीं आ सकती। मन्त्र के अन्त का निर्देश अत्यन्त मूल्यवान् है। किसी वस्तु का ज्ञान या बार बार उसके सम्बन्ध में बातें करते रहने से मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। बात सामने भले न आए। अथवा बात चीत के द्वारा दूसरे को भले ही न समझा सके, किन्तु आचरण उसका स्पष्ट हो। वादविवाद की अपेक्षा क्रिया का महत्त्व सदा ही अधिक माना जाता है। ऋत के ज्ञान के कारण, गत इतिहास के अध्ययन मात्र के बल से, भविष्यत् के लिए सुन्दर सुन्दर आयोजनाओं के विचार कर सकने के सामर्थ्य के भरोसे कोई यह न समझ ले कि उसे प्राप्तव्य प्राप्त हो सकता है। इस बात से सावधान करने के लिएराष्ट्रकर्मियों के मुख से वेद ने कहलाया—

अन्तर्दधे सलिसेन वाचः

मैं वाणियों को, बातों को गति के द्वारा, क्रिया से ढांकता हूं। वास्तविक ऋत यही है, अन्य अनृत है।

४—उग्र=उग्रता=तेजस्विता—

केवल ज्ञान ही पर्य्याप्त नहीं राष्ट्ररक्षा के लिए ज्ञान के अनुकूल अनुष्ठान भी होना आवश्यक है, यह बात ऋत के व्याख्यान प्रसंग में बताई जा चुकी है। अब राष्ट्र के लिए ऋतानुसार अनुष्ठान अर्थात् उग्रता धारण करने की प्रयोजनीयता बताने की चेष्टा करते हैं।

राष्ट्ररक्षकों को संबोधन करके वेद [ऋ० ७।१०१।६] कहता है—

सं वसवो वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः ।
तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

हे राष्ट्ररक्षा के लिए मरने मारने में तत्पर वीरो ! तुम्हारा नाम वसु है तुम उग्रपश्य हो, राष्ट्रभृत् हो तुम सचमुच अक्ष हो। हे आनन्दविधायको, ऐसे तुम लोगों की हम त्याग, श्रद्धा से पूजा अर्चा करते हैं, तुम्हारे पुरुषार्थ से हम राष्ट्रवासी रमणीय पदार्थों, ऐश्वर्यों के स्वामी हो सकेंगे।

ध्यान दीजिए, इस मन्त्र में राष्ट्रभृतों=राष्ट्रपालकों को उग्र-पश्य कहा गया है, जो उग्र दिखाई दे, और जो उग्रता से देखे, उसे उग्रंपश्य कहते हैं। राष्ट्ररक्षारूपी सत्कर्म्म में प्रवृत्त हुए मनुष्यों के लिए उग्रंपश्य होना स्वाभाविक है। जो तेजस्वी नहीं है, उससे अन्य जन भयभीत या आतङ्कित क्यों होने लगे। तेजो-हीन को तो दूसरे दबोच लेंगे।

राष्ट्रभृतों की उग्रता का फल होना चाहिए राष्ट्र की श्रीवृद्धि, ऐश्वर्य्यसमृद्धि, जो उग्रंपश्य राष्ट्रभृत् राष्ट्र की श्रीवृद्धि का हेतु बनते हैं उन्हें 'वसु' नाम देना सर्वथा उपयुक्त है। श्रीहीन राष्ट्र उजड़ जाता है। राष्ट्रभृत् केवल उग्रंपश्य हों तो वे अपनों के विनाश का कारण भी बनेंगे, अपने देशवासियों को भी लूटेंगे, उससे देश उजड़ जाएगा। उग्रंपश्य राष्ट्रभृतों के कारण राष्ट्र उजड़ने न पावे, इस लिए वेद उन्हें संबोधन करके कहता है कि हे

राष्ट्रभृतो ! इस बात को कभी न भूलना कि तुम्हारा नाम 'वसु' है, बसाने वाला है, उजाड़ने वाला नहीं। जो वसु हैं, वे सचमुच इन्दु=आनन्द का हेतु हैं। ऐसे आनन्दकारक वसुओं का आदर मान होना ही चाहिए।

वैदिक संस्कार विधि में विवाह संस्कार में 'राष्ट्रभृत्' नामक आहुतियों का विधान है। उन मन्त्रों का विवाह संस्कार में विधान का विशेष प्रयोजन है। विवाह के द्वारा मनुष्य राष्ट्रभृत् बनता है। ब्रह्मचारी राष्ट्रभृत् बनने की तैय्यारी में है। राष्ट्र का निर्माण विवाह से होता है, इस बात को समझाने के लिए विवाह संस्कार में राष्ट्रभृत्-आहुतियों का विधान है। वेद राष्ट्र जीवनारम्भ में मनुष्य को राष्ट्र के प्रति उसके कर्तव्य का उद्बोधन करा रहा है। वैदिक धर्म्म की इस सुशिक्षा की अवहेलना से संसार दुर्दशाग्रस्त हो रहा है।

विजय यात्रा के लिए तय्यार हुए सेनानी को संबोधन करके कहा जाता है—

बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः
सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः।
अभि वीरो अभिषत्वा सहोजित्
जैत्रमिन्द्र रथमातिष्ठ गोविदन् ॥

अ० १६।१३।५

हे इन्द्र=शूरवीर सेनानी ! बल का जानने वाला, स्थिर भाव वाला, परिपक्व विचारों वाला, उत्तम वीर, शक्तिसंपन्न, वेगवान्,

सहनशील, वीरों से घिरा हुआ, सत्यसामर्थ्य से भरपूर, सहनशीलता से विजय प्राप्त करने वाला उग्र होकर, भूमिप्राप्ति की अभिलाषा से जैत्र=विजयशील रथ पर चढ़।

थोथी उग्रता विनाश का कारण बनती है, न अपनी शक्ति का ज्ञान है और न ही पराये बल का बोध है, केवल उग्रता है तो पराजय सामने खड़ी स्वागत कर रही है। स्वराष्ट्र की रक्षा के लिए अपने और पराये सामर्थ्य का पूरा ज्ञान होना चाहिए। राष्ट्र का कार्य करने वाले स्थविर=वृद्ध होने चाहिएं। वृद्धता आयु से नहीं होती, जैसे मनु महाराज ने कहा है—**न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः**। बालों की श्वेतता से वृद्ध नहीं होता है। भाषा में कहावत है—'बुद्धि बड़ी कि वयस्' ❀ स्थविर का अर्थ यहां 'स्थितप्रज्ञ' स्थिरधी है। जिसकी बुद्धि अपने कर्तव्यपथ से विचलित नहीं होती। परराष्ट्र के प्रणिधि=दूत लोग चिकनी चुपड़ी बातों में उलझा कर बहुधा राष्ट्र नायकों को अपने राष्ट्र के प्रति कर्तव्यों से विचलित कर दिया करते हैं। अतः राष्ट्रभृतों को स्थविर अविचलित बुद्धि वाला होना चाहिए। राष्ट्र-नायक को बलविज्ञाय तथा स्थविर होने के साथ प्रवीर=श्रेष्ठवीर होना चाहिए। इसके साथ शक्तिसंपन्न, कार्य्य करने में दीर्घसूत्रता करने वाला न होकर शीघ्रकारी भी होना चाहिए।

❀ अज्ञान के कारण लोग 'वयस्' के स्थान में भैंस कहने लग गये हैं। वह अनर्थक होने से अशुद्ध है। शुद्ध शब्द 'वयस्' है, उस का अर्थ 'आयु' है।

इन सब गुणों के साथ उसे सहनशील होना चाहिए। अपने सहकर्मियों तथा साथियों की बात को धैर्य से सुने एवं विरोधियों के आक्रमणों के समय उद्विग्न होकर धृति को न छोड़े। इन सब गुणों के साथ वीरों से घिरा रहे। राष्ट्र-कार्य्य अकेले से साध्य नहीं। स्वराज्य को वेद में बहुपाय्य=अनेकों से रक्षणीय बताया गया है, अतः राष्ट्रकर्मियों को अपने जैसे उपर्युक्त गुण-युक्त प्रवीरों का संग्रह करना योग्य है, सत्व सामर्थ्यसंपन्न होने के साथ उसे साहसी होना चाहिए। वह साहस से जीतने वाला तथा साहसियों को जीतने वाला होना चाहिए।

ये समग्र गुण हों तब उग्रता लाभकरी है। अन्यथा वह उग्रता=व्यग्रता हो जायगी।

राज्यकर्म्म में वेद उग्रता को अनिवार्य्य मानता है। राजा का चुनाव करके प्रजा उससे कहती है—

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदिश्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि॥

(अ० ३।४।२)

इन सब दिशाओं विदिशाओं में रहने वाली व्यवहारकुशल मानवी प्रजाएं राज्य-कार्य्य के लिए तुझे चुनती हैं। हे नरश्रेष्ठ! तू राष्ट्र के सिंहासन पर बैठ और उग्र होकर हमारी सम्पत्तियों का विभाजन कर। प्रजा स्वयं राजा से उग्र होने को कह रही है। अतः राजा का उग्र होना आवश्यक है। ढीला ढाला राजा राज्यकार्य्य क्या करेगा। वह किसी अपराधी

को दण्ड न दे सकेगा । उससे राष्ट्र में भयङ्कर अव्यवस्था फैल जायगी। ढीला ढाला राजा मोह में आकर अन्याय कर सकता है। न्याय वितरण करते हुए राजा अपने पराये को भूल जाए। इसी में मङ्गल है। इसके लिए उसे कठोर हृदय होना चाहिये।

केवल राजा का उग्र होना पर्य्याप्त नहीं वरन् सैनिकों में भी उग्रता होनी चाहिए। नेता को बुलाते समय प्रजावर्ग का कथन है—

ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः ।
मरुद्भिरग्न आगहि ॥

ऋ० १।१६।५

जो पवित्र घोर भयङ्कर स्वरूप वाले उत्तम क्षत्रिय एवं हिंसकों के भी हिंसक हैं। हे अग्ने! उन मरुतों मरने मारने में तत्पर वीर सैनिकों के साथ आ।

कितनी ऊंची बात कही है। मरुतों को घोरवर्पा-भयङ्कर आकार वाला, हिंसक हिंसकों का हिंसक तथा उत्तम क्षत्रिय बनाते हुए 'शुभ्र' स्वच्छ, विमल, पवित्र कहा है। अर्थात् आकार में भयङ्कर होते हुए भी वे हृदय के पवित्र हों। हिंसा करते हुए भी पवित्र होना चाहिए। शत्रु का घातपात करते हुए उस का घात विनाश ही लक्ष्य न हो। प्रत्युत जनता की रक्षा की सद्भावना से वह इस कार्य्य में प्रवृत्त हुआ हो, तब वह पवित्र है क्योंकि अब उस का उद्देश्य हिंसा नहीं वरन् रक्षा है इसीलिए ऐसे भयङ्कर को सुक्षत्रिय कहा गया है। वेद का दृष्टिकोण

यथार्थता वास्तविकता को लिए हुए है। वेद अनिवार्य्य हिंसा का निषेध नहीं करता। समुदाय की रक्षा के लिए वह एक की हत्या को हिंसा नहीं मानता। आर्य्यसाहित्य में हिंसा अहिंसा के इस रहस्य को अनेक स्थलों में स्पष्ट किया गया है। जैसे विदुर जी ने धृतराष्ट्र को कहा—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।

परिवार के लिए यदि एक का त्यागना अनिवार्य्य हो तो संकोच न करे और ग्राम की रक्षा के लिए यदि किसी कुल की बलि देनी हो तो सोचे नहीं।

विदुर का यह कथन ऋत नियम पर अवलम्बित है। शरीर के किसी अवयव में यदि विषैला फोड़ा आदि हो जाए तो चतुर चिकित्सिक शरीर रक्षा के लिए उस अङ्ग को देह से पृथक् कर देते हैं। काट देते हैं। काटते हुए यदि कुदया जाग खड़ी हो तो बस रोगी समाप्त है। व्यक्ति की अपेक्षा राष्ट्र शरीर की दशा कुछ अधिक उग्रता चाहती है, अतः वेद [ऋ० ३।१।२] में कहा गया है:—

यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभिप्रेत मृणात सहध्वम् ॥

हे मरुतो! मरने मारने में तत्पर वीरो! ऐसे प्रसङ्गमें तुम उग्र होवो, चढ़ाई करो, मारो, शत्रुओं के वार सहन करो।

राज्यकार्य्य तीक्ष्णता के बिना, शस्त्रास्त्र के बिना चल नहीं सकता। अतः वैदिक पुरोहित पुकार कर कहता है:—

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।
इन्द्रस्य वज्रात्तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥
अ० ३।१६।४

जिनका मैं पुरोहित हूं, वे परशु=कुल्हाड़ा से अधिक तीक्ष्ण होते हैं, अग्नि से भी अत्यधिक तीक्ष्ण होते हैं, इन्द्र के वज्र= विद्युत् से भी तीक्ष्णतर होते हैं।

पुरोहित का यह वचन पागल की बड़बड़ाहट नहीं है। वैदिक परिभाषा में नेता को पुरोहित कहते हैं। यह सर्वजनसिद्ध है कि पुरोहित=नेता पर बहुत कुछ निर्भर होता है। योग्य नेतृत्व वाले राष्ट्र और समाज संसार में गौरव प्राप्त करते दीखते हैं, योग्य नेतृत्व रहित देश अवनति के गर्त में गिरते दृष्टिगोचर होते हैं। पुरोहित=नेता का अपने यजमानों=अनुगामियों की तीक्ष्णता का कथन करना एक प्रकार से अपनी उग्रता का वर्णन करना है। इसी कारण ब्राह्मणों के सम्बन्ध में वेद में [अ० ५।१८।६] में कहा है:—

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा ।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥

तीक्ष्ण बाणों वाले, शस्त्रास्त्रधारी ब्राह्मण जिस शरसमूह को शत्रु पर फेंकते हैं, वह बेकार नहीं जाता, क्योंकि वे तप [चिन्ता-विलाप से शून्य होकर कष्ट सहन] तथा मन्यु [विचारपूर्वक क्रोध, तेजस्विता] के साथ शत्रु का पीछा करके दूर से ही उस का भेदन कर देते हैं।

विचारने की बात है, वेद के अनुसार केवल क्षत्रिय ही शस्त्रास्त्रधारी नहीं होना चाहिए, ब्राह्मण भी आयुधधारी होना चाहिए। यह है भी उचित। ब्राह्मण का कार्य्य सब वर्णों को विद्या-शिक्षा देना है। जिसे स्वयं ज्ञान नहीं है वह दूसरों को क्या सिखायेगा। गुरु का कौशल शिष्य की अपेक्षा अधिक ही होता है, अतः कहा है कि "ब्राह्मण जिस शरसमूह को शत्रु पर फेंकते हैं, वह बेकार नहीं जाता।"

ऐसा पुरोहित ही निम्नलिखित वचन कह सकता है—

समहेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्य्यं बलम्।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम्॥

अ० ३।१६।२

इनके राष्ट्र को मैं ही एक रूप देता हूँ, इन के ओज, वीर्य्य, बल को मैं ही एकता प्रदान करता हूं, मैं अपने हवि=साधन शत्रुओं की भुजा को काटता हूं।

योग्य नेता राष्ट्र के भिन्न-भिन्न वर्गों तथा विभिन्न स्वार्थों के उपासकों को राष्ट्रहित के लिए एक भावापन्न करके एक रूप बना देता है।

ऐसे पुरोहित का यजमान क्षत्रिय ही कह सकता है कि:—

अजीतोऽक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्।

(अ० १२।१।११)

मैं किसी प्रकार की हानि उठाए बिना, क्षत हुए बिना पृथिवी=राष्ट्र का अधिष्ठाता बना हूं।

ऐसे नेता तथा अनुयायी ही कह सकते हैं कि:—

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥

(अ० १२।१।७)

जिस विशाल राष्ट्र की सदा जागरुक विजिगीषु (विजयाभिलाषी) महामनुष्य सदा सावधानता से रक्षा करते हैं, वह राष्ट्र हमें मधुर और अभीष्ट पदार्थ देता है तथा तेजोयुक्त करता है।

इस प्रकार के जागरुक विजिगीषुओं द्वारा रक्षित राष्ट्र का नेता अपने राष्ट्र को सम्बोधन करके कहता है—

यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद्
योऽभिदासान्मनसा यो वधेन ।
तं नो भूमे रन्धय पूर्व कृत्वरि ॥

अ० १२ । १ । १४

हे राष्ट्र [राष्ट्रवासी जनो] ! जो हम से द्वेष करे, हम पर चढ़ाई करे, जो मन से हमें दास बनाने को सोचे अथवा हथियारों के द्वारा दास बनाना चाहे, हे पहले से ही उपाय करने वाले राष्ट्र कर्मियो ! उस को नष्ट कर दो।

नाश उग्रता के बिना असम्भव है। दूसरे के अनिष्ट करने से पूर्व ही उसका सफाया करना वेद बता रहा है। आक्रमण से पूर्व प्रत्याक्रमण वेद को इष्ट है। जीवन का साधन ही यही है।

जिस राष्ट्र के नेता, राष्ट्रकर्मियों एवं राष्ट्रवासियों की ऐसी

नीति है, उस राष्ट्र का अधिनायक निर्भर होकर मातृभूमि के प्रति कह सकता है—

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं
बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं
मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्य्यो रश्मिभिरातनोति॥

अ० १२।१।१५

हे मातृभूमे! तुझ में उत्पन्न हुए मनुष्य तुझ ही में विचर रहे हैं। तू हमारे दोपायों और चौपायों का पालन-पोषण करती है। ये सभी गोरे, काले, लाल, पीले, गेंहुए रङ्ग के पांचों प्रकार के मनुष्य तेरे ही हैं जिन मनुष्यों पर उदय होता सूर्य्य किरणों द्वारा जीवन प्रकाश का विस्तार करता है।

उग्र, तेजस्वी, जागरुक, विपत्ति के उदय से पूर्व ही उसका प्रतीकार करने में समर्थ देश का नेता ही यह कह सकता है कि 'मातृभूमे! तुझ में उत्पन्न मनुष्य तुझ ही में विचरते हैं।' अविवेकी, अदूरदर्शी, अविचारशील, सुप्तप्राय, सर्वथा मृदु, प्रमादी नेताओं के अनुयायी घर से बेघर हो जाया करते हैं। मातृभूमि, राष्ट्र माता की गोद से दूर होकर मातृहीन बालकों की भांति अपने देश से दूर विदेश में अनाथ और विपन्न दशा में भटकते फिरते हैं। ऐसी दशा न आने देने का एक ही प्रधान साधन है उग्रता—जागरुकता युक्त उग्रता।

तेजोहीनों को तो अपने देश में भी बेखटके विचरना नहीं

मिलता। उसे अपने ही राष्ट्र में सर्वत्र भय और विरोध दीखता है। वह बिचारा कैसे कहे कि—

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते
भूमे अधराद्याश्च पश्चात्।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा निपप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥
अ० १२।१।३१

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन्परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥
अ० १२।१।३२

हे मातृभूमे! जो तेरे पूर्व, (दायें), उत्तर (बायें) ऊपर, नीचे, प्रदेश है, मुझे विचरने वाले के लिए वे सब सुखकारक हों। मैं तेरा आश्रय लेता हुआ गिर न पड़ूं। आगे, पीछे, ऊपर, नीचे, कहीं से भी हमें न धकेल। हे मातृभूमे! तू हमारे लिए सुखदायिनी हो, हमें विरोधियों से वास्ता न पड़े। महान् वध को हमसे दूर कर।

मातृभूमि को ऐसा सम्बोधन कौन कर सकता है? जो दीन है, उसे तो सदा पतन का भय है। उसे सर्वत्र अपने ही देश में शत्रु दिखाई दे रहे हैं। उस पर अपराध न करने पर भी, दीन होने के कारण भय के मारे हत्या सवार है। वीर ही हत्या=हत्या के साधनों को दूर कर सकता है। तेजस्वी ही कह सकता है कि हमें विरोधियों से वास्ता नहीं पड़ सकता।

तेजस्वी वीर मस्त होकर कहता है—

यस्यां सदो हविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते ।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः ।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥

अ० १२ । १ । ३८

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥

अ० १२ । १ । ३९

सा नो भूमिरादिशतु यद्धनं कामयामहे ।
भगो अनुप्रयुंक्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥

अ० १२ । १ । ४०

मेरी जिस मातृ-भूमि में यज्ञ मण्डप, सामग्री घृतादि के रखने के स्थान तथा यूप=यज्ञस्तम्भ बनाये जाते हैं, चारों वेदों के ज्ञाता जिस भूमि में वेद द्वारा उपदेश करते हैं। इन्द्र को, [आत्मा को, राजा को] सोमपान [ऐश्वर्य्यपान] कराने के लिए ब्रह्मा, होता, उद्गाता तथा अध्वर्यु नामक ऋत्विक् तत्पर रहते हैं ॥ जिस भूमि में हमारे पूर्वज यथार्थकारी, सत्यकर्म्मा, सत्यधर्म्मा, यथार्थदर्शी ऋषि मुनियों ने वेदव्याख्यान किये। ज्ञान के बखान किये। यज्ञ और तप के अनुष्ठान किये ॥ वह हमारी मातृ-भूमि, जो जो धन, हम चाहें, हमें देवे, ऐश्वर्य्य का हमारे अनुकूल प्रयोग हो। ऐश्वर्य्यसम्पन्न हमारा अगुआ हो।

पराधीन मनुष्य को मातृ-भूमि के धनधान्य के आढ्य होने पर भी, भूखों मरना पड़ता है। उसकी भूमि का धन, अन्न,

हिरण्य, औषध उसके लिए नहीं होती। उसे अपने यज्ञयाग, धर्म्म कर्म्म के अनुष्ठान की स्वतन्त्रता नहीं होती। उसे अपने पूर्वजों पर गौरव करने का मानो अधिकार ही नहीं होता। तेजस्वी मनुष्य, स्वाधीन मनुष्य ही अपनी भूमि से यथेच्छ धन धान्य प्राप्त कर सकता है।

इन मन्त्रों में मनुष्य को एक संकेत दिया है कि अपनी भव्य संस्कृति, तथा उस संस्कृति के निर्माता एवं विधाता गौरव की वस्तु हैं।

पूर्वजों के कार्य्यों पर गर्व करने का अधिकार उनको हो सकता है, जिनको इस बात का ज्ञान हो कि उन के पूर्वजों ने क्या क्या पराक्रम किए हैं, संसार की सुख-संवृद्धि एवं अपने राष्ट्र के गौरव की अभिवृद्धि के लिए क्या क्या सत्कर्म किए हैं और जो यदि अपने पूर्वजों से आगे नहीं बढ़ सके तो उन से न्यून और हीन भी न हुए हों। यह तभी संभव हो सकता है कि उन के अन्दर अपने उत्कर्ष की भावना जागरूक रहती हो। इसी उत्कर्ष की भावना को उग्रता कहते हैं। जिसमें उग्रता की यह भावना होती है वह सर्वमुखी उन्नति की साधना की चेष्टा करता है। वेद राजा का कर्तव्य बताता हुआ कहता है—

इन्द्रः कारुमबूबुधदुत्तिष्ठ वि चरा जनम् ।
ममेदुग्रस्य चर्कृधि सर्व इत्ते पृणादरिः ॥

(अ० २० । १२७ । ११)

राजा कारु=शिल्पी एवं ज्ञानी को बार बार सावधान करता है

और कहता है कि उठो और लोगों को विविध प्रकार का ज्ञान-विज्ञान सिखलाओ। मुझ उग्र के आदेश का बार बार पालन करो, फिर देखो, सभी शत्रु तेरी प्रसन्नता का उपाय करते हैं।

उग्र राजा ही कह सकता है कि मेरे शिल्पियों, ज्ञानियों का शत्रु भी सत्कार करने पर तय्यार है।

इस मन्त्र में राजा को उग्र होने के साथ एक आदेश है कि वह सदा अपने राष्ट्र के गुणिजनों को सावधान करता रहे अर्थात् उन्हें देश विदेश की आवश्यकताओं, विदेशों में हुए आविष्कारों का बोध कराता रहे और उन्हें प्रेरित करता रहे कि वह अपने ज्ञान तथा शिल्प को अपने तक ही सीमित न रखें, प्रत्युत जन साधारण में उस का प्रचार तथा प्रसार करें। इस कार्य्य के सम्पादन के लिए, आवश्यकता पड़ने पर, राजा उग्र होने से संकोच न करे। शिल्पियों को जागरित करते समय राजा अपने आप को उग्र बनाए।

सारांश यह कि राष्ट्र को पराधीन होने से बचाने के लिए, राष्ट्र की स्वाधीनता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए, राष्ट्र की श्रीवृद्धि के लिए राजा एवं राष्ट्रवासी सभी में उग्रता की नितान्त आवश्यकता है। इस गुण के बिना राष्ट्र को अपनी सत्ता संभाल रखना असंभव है। अतः राष्ट्र के सभी हितचिन्तकों को उग्र=तेजस्वी होना चाहिए। मृदु, कोमल को तो सभी ग्रास बनाने, निगलने को तत्पर रहते हैं।

शक्ति के विना उग्रता से लाभ के स्थान में हानि की संभावना

होती है, अतः शक्ति का संचय करके समय पर उग्र होना चाहिए। इसी कारण 'उग्र' से पूर्व मन्त्र में ऋत का उपादान किया है। ऋत से जन्य उग्रता अथवा ऋत से सहकृत एवं पालित पोषित उग्रता सफलता की साधिका हो सकती है।

इस बात को कभी भी नहीं भूलना चाहिए कि उग्रता का अपलाप करने वाले सृष्टि नियम=ऋत तथा उसके बोधक वेद के विरुद्ध कथन करते हैं। अतः उपेक्ष्य हैं। उग्रता जीवन का चिह्न है।

दीक्षा का अर्थ है मुंडवाना, यज्ञ करना कराना, उपनयन, नियम, व्रत तथा आदेश।

देश रक्षा प्रकरण में इन सभी अर्थों का उपयोग होते हुए हम केवल पहले अर्थ को प्रधानता देते हैं। मुण्डन की क्रिया पर ध्यान दीजिए तो राष्ट्र कर्म्म में दीक्षा का उपयोग सरलता से हृदयङ्गम हो सकता है। बाल मुण्डवाने का प्रयोजन शुद्धि है। बाल हड्डी आदि का मल होनेसे स्वयं अपवित्र हैं। बालों के कारण बालों वाले स्थान में बाह्य मल का पर्य्याप्त संचय होता है। शरीर शुद्धि के लिए उस मल को निकालना, हटाना अनिवार्य्य है। अन्यथा फोड़ा फुन्सी आदि नाना रोगों के होने की संभावना रहती है। शुद्धि का सरल उपाय है केशवपन=बाल मुंडवाना।

हमारे यहां ब्रह्मचर्य्य, वानप्रस्थ, सन्यास में प्रवेश करते समय सिर मुंडवाने का नियम है। इन आश्रमों में प्रवेश करने को ब्रह्मचर्य्य की दीक्षा, वानप्रस्थ की दीक्षा एवं संन्यास की दीक्षा

कहते हैं। इन दीक्षाओं को लेते समय सिर मुंडवाने का अभिप्राय इतना ही है कि नव प्रविविक्षु के मन में इस बात की भावना उत्पन्न करनी होती है कि इन आश्रमों की मर्यादा के विरोधी सब साधन नष्ट कर देने हैं। विरोधी साधनों को हटाए विना साधक साधनों का अनुष्ठान विशेष फलप्रद नहीं होता। अतः दीक्षा का अर्थ हुआ बाधकों को हटाकर साधकों के संग्रह में लगना अर्थात् लक्ष्यसिद्धि के अतिरिक्त अन्य कार्य्यों से उदासीन होकर सर्वात्मना लक्ष्यसिद्धि में लग जाना। इससे राष्ट्रकार्य्य के लिए दीक्षा की उपयोगिता एवं आवश्यकता स्वतः स्पष्ट है।

दीक्षा के उपरिनिर्दिष्ट अर्थों में एक अर्थ व्रत है। व्रत का भी यही भाव है। त्याग-पूर्वक किसी विध्यात्मक नियम का धारण। यज्ञ करने के लिए उद्यत यजमान से एक मन्त्र बुलवाया जाता है जिसमें व्रत का निर्देश सा है। उसे मनन करने की आवश्यकता है। वह मन्त्र यह है—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥

(अ० १।५)

हे सबको ऊपर उठाने वाले, व्रतों की रक्षा करने वाले प्रभो! व्रत करना चाहता हूं, आप की दया से उसे कर सकूं, वह मेरा व्रत सफल हो सिद्ध हो। [वह व्रत क्या है? उस के उत्तर में कहा है] मैं असत्य को त्याग कर सत्य को प्राप्त करूं।

असत्य अभावात्मक है, निषिद्ध है अतः उसको त्याग करने

की कामना की गई है। सत्य विध्यात्मक है, सत्स्वरूप है, किसी से बाधित नहीं होता, अतः उसकी प्राप्ति की अभिलाषा की गई है।

व्रत का यह स्वरूप बतला रहा है कि व्रत=दीक्षा उभयात्मक है—निषिद्ध का त्याग तथा विहित का ग्रहण अर्थात् अनुपयोगी का विनाश और उपयोगी के विकास की भावना को अक्षुण्ण बनाए रखने का नाम दीक्षा है।

किसी कार्य्य में सफलता प्राप्त करने के लिए उसके निमित्त दीक्षित होना नितान्त प्रयोजनीय है। इस दृष्टि से विचारा जाए तो वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में सफलता के लिए दीक्षा का स्थान बहुत ऊंचा है।

राष्ट्रकर्म में तत्पर मनुष्य जब राष्ट्र के लिए दीक्षा लेता है तो मानो वह प्रतिज्ञा करता है कि उसकी चिन्ताओं का केन्द्र राष्ट्रहितचिन्ता होगी। अन्य सब चिन्ताएं राष्ट्रहित चिन्ता के सामने गौण होंगी। जिस राष्ट्र के सभी राष्ट्रीय ऐसे दीक्षित हों, उस राष्ट्र की ओर कौन बांकी दृष्टि से देखने का साहस कर सकता है?

सभी देशों में राष्ट्र के प्रमुख अधिकारियों से राष्ट्रहित रक्षा के लिए शपथ, प्रतिज्ञा लेने का विधान है। यह एक प्रकार की दीक्षा ही है। यह विधान दीक्षा के उपयोग तथा महत्त्व का द्योतक है।

सत्य, महत्त्व, ऋत एवं उग्रता के साथ दीक्षा सुवर्ण में सुगन्ध है।

राष्ट्ररक्षा का मूल 'सत्य' दीक्षा का परम्परित अन्तिम परिणाम है। वेद कहता है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

य० १९। ३०

व्रत के द्वारा दीक्षा को प्राप्त करता है, दीक्षा से उत्साह—ग्लानिरहित उत्साह—को प्राप्त करता है. उत्साह श्रद्धा तक पहुंचाता है। श्रद्धा के द्वारा सत्य प्राप्त किया जाता है।

यहां व्रत को दीक्षा से पृथक् निर्देश किया गया है, इसी के आधार पर हमने आरम्भ में व्रत और दीक्षा पृथक् माना है। एक बात स्पष्ट है कि व्रत दीक्षा का मूल है। व्रत का पूर्वोक्त भाव असत्यत्याग पूर्वक सत्यग्रहण ग्रहण किया जाए. तो दीक्षा का भाव होगा—समर्पण। समर्पण का परिणाम उत्साह होता है। समर्पण करने का फल यह होता है कि मनुष्य तन्मयता से अपने कर्त्तव्य का अनुष्ठान करता है। कर्त्तव्य पालन करते समय यदि आत्मीयों द्वारा भी उसका अपमान होता है तो उस की ओर वह देखता नहीं। कोई बाधा उसे कर्त्तव्य पालन से विचलित नहीं कर सकती। वैदिक परिभाषा में इस प्रकार के उत्साह का नाम 'दक्षिणा' है। इस दक्षिणानामक अग्लान उत्साह का फल है श्रद्धा=सत्यधारण योग्यता। सत्याचरण का सामर्थ्य। इस का परिणाम है सत्य, जो राष्ट्ररक्षा के लिए सब से प्रथम उपादेय साधन है।

मन्त्र पर विचार करने से ज्ञात होता है कि दीक्षा के परिवार का विस्तार बड़ा है। वेद जब दीक्षा को राष्ट्रधारण का साधन बतलाता है तब उसका अभिप्राय दीक्षा के मूल व्रत तथा दीक्षा से उत्पन्न दक्षिणा-अनुष्ठान उत्साह आदि सब से है। इस दृष्टि से दीक्षा का महत्त्व बहुत अधिक है।

अथर्व १२।५।३ में दीक्षा को रक्षा का साधन बताया गया है—

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया।
गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम्॥

स्वधा श्रद्धा से धारित, श्रद्धा से परिवाहित, दीक्षा से सुरक्षित, तथा यज्ञ में प्रतिष्ठित होती है तब लोक निधन होता है।

इस मन्त्र का देवता प्रतिपाद्य 'ब्रह्मगति'= राष्ट्रवाणी (Voice of the People) है। जनवाक् की अपनी शक्ति होती है। वह परसहायनिरपेक्ष होती है अतः वेद उसे 'स्वधा'=अपनी शक्ति से धारित कहता है। जब जनमत सचमुच इतना प्रबल हो कि उसे कार्योचित होने में दूसरे की सहायता की अपेक्षा न रहे तब समझ लो कि श्रद्धा=सत्य के धारण का सामर्थ्य अर्थात् अपने वैध अधिकार प्राप्त करने का बल उसमें आ गया है। अतएव अब वह अपने उस लक्ष्य के लिए अपने आप को अर्पण करने में सन्नद्ध हो गया है। जहां जनता में अपने वैध एवं जन्मसिद्ध अधिकार की प्राप्ति के लिए समर्पण—तन, मन, धन, जन देशार्पण करने का भाव जाग गया। वहां वह अधिकार

स्वतः ही सुरक्षित हो गया। तब वह अधिकार यज्ञ=संगठन में प्रतिष्ठित हो गया, आरूढ हो गया, बद्धमूल हो गया।

पूर्व मन्त्र की भांति इस मन्त्र में भी श्रद्धा को दीक्षा की सहचारिणी बताया गया है। वेद की यह अनुपम शैली है कि वह संभाव्यमान दोषों का पूर्व से ही वारण कर देता है। कोई दीक्षा को केवल मूंड मुंडाना ही न मान बैठे, इसके लिए दीक्षा का मूल व्रत बनाने के लिए व्रतको दीक्षा से प्रथम स्थान दिया। दीक्षा सचमुच दीक्षा हुई है, केवल ढकोसला या दिखावामात्र नहीं हुई है, इसके परीक्षण का उपाय भी बतला दिया कि उसके परिणाम क्रम से दक्षिणा=अग्लान उत्साह, तथा तज्जन्य श्रद्धा और उसका परिणाम सत्यप्राप्ति है। अर्थात् दीक्षा सच्ची तभी हो सकती है कि वह जनमत की रक्षा करती हुई जनयज्ञ में बराबर सङ्गठित जनता में प्रतिष्ठित हो जाए। अर्थात् एक एक व्यक्ति अपने राष्ट्र के वैध अधिकार की रक्षा के लिए उठ खड़ा हो। तब वह राष्ट्र अपने वासियों के लिए निधन=निरन्तर धन और शत्रुओं के लिए निधन मृत्यु बन जाता है।

सत्य, महत्त्व (महत्त्वाकांक्षा) ऋत तथा उग्रता के साथ दीक्षा की उपयोगिता के संबध में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है।

तप का अर्थ है तपना, तपाना। चिन्ता और विलाप से रहित होकर अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए शीत-उष्ण, सुख-दुःख, हर्ष-शोक, आपत्-संपत्, हानि-लाभ, जय-पराजय, आदि विविध परस्पर विरुद्ध द्वन्द्वों का सहने का नाम तप है।

तप का उपलक्षण कहते हुए तैत्तिरीयोपनिषत् में कहा गया है—

श्रृतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः,
शान्तं तपः, दमस्तपः, शमस्तपो,
दानं तपो, यज्ञस्तपो, भूर्भुवस्स्वर्ब्रह्म
तदुपास्व, एतत् तपः ॥

(तै० उ० प्रपा० १०।८)

श्रृत तप है, सत्य तप है, श्रुत=वेदाध्ययन तप है, शान्त=शान्ति तप है। दम=मन का संयम तप है, शम=कर्म्मेन्द्रियों को नियन्त्रित रखना तप है, दान देना तप है, यज्ञ तप है, सच्चिदानन्द ब्रह्म की उपासना तप है।

तप के जो उपलक्षण यहां वर्णित हुए हैं, उन पर विचार कीजिए, सब में कुछ न कुछ आयास का आभास अवश्य मिलता है। इस औपनिषद वचन के विश्लेषण से यही निष्पन्न होता है कि शारीरिक, मानसिक, आत्मिक परिश्रम का नाम तप है। जीवन यात्रा के लिए परिश्रम की आवश्यकता को एक संस्कृतोक्ति में बहुत ही सुन्दरता से व्यक्त किया गया है। **स्वेदं विना नहि स्वादः** =स्वेद=पसीना अर्थात् परिश्रम के विना स्वाद=रस=आनन्द नहीं है। **श्रमं विना न परिश्रमः** लोकोक्ति में भी यही बात कही गई है। वेद (ऋ ४।३३।१) में इस भाव का इन शब्दों में उपदेश हुआ है—

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।

परिश्रमी के विना देव किसी के मित्र नहीं होते।

देव=दैवीशक्ति (Natural forces) परिश्रमी की सहायता करती है। आग, हवा, पानी, मिट्टी, सूर्य्य, अन्तरिक्ष आदि में समस्त ऐश्वर्य्य निहित है। किन्तु क्या यह ऐश्वर्य्य सब को सुलभ है ? समुद्र में मोती होते हैं, किन्तु क्या सबको प्राप्त हैं ? जो परिश्रम करता है, अग्नि आदि का यथायोग्य उपयोग करता है वह उनसे मिलने वाले ऐश्वर्य का स्वामी बनता है। समुद्र में जो मज्जन करता है, गहरी डुबकी लगाता है, वह मोती लाता है। भाव यह कि परिश्रम के बिना कुछ साध्य नहीं और परिश्रम से सब कुछ साध्य है।

तप की महिमा महान् है। आत्मा जैसा गूढ तत्त्व भी तप से मिल जाता है जैसा कि मुण्डकोपनिषत् में कहा गया है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

सत्य, तप, यथार्थ ज्ञान और नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य्य से यह आत्मा प्राप्त हो सकता है, आत्मलाभ बहुत विकट कार्य है। जब आत्मदर्शन तप से हो सकता है तब राष्ट्ररक्षण, जो भौतिक कार्य्य है, अवश्य ही तप से साध्य है।

तप और दीक्षा का राष्ट्र के साथ साक्षात् संबन्ध वेद में निरूपित हुआ है। देखिए—

भद्रामिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततोराष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥
(अ० १६।४१।१)

भद्र=कल्याण की कामना करते हुए उत्तमस्थिति की प्राप्ति के ज्ञाता तत्त्वदर्शी महात्मा पहले तप और दीक्षा को धारण करते हैं। उसके फलस्वरूप उन्हें राष्ट्रबल और ओज मिलता है उनके इस राष्ट्र के प्रति देव भी समीप आकर नमते हैं।

स्पष्ट ही राष्ट्र-प्राप्ति के लिए दीक्षा तथा तप का यहाँ विधान है। राष्ट्रप्राप्ति की एक सीधी सादी पहचान भी इसमन्त्र में कह दी गई है। वह यह है कि राष्ट्र की सत्ता का परिचय उसके बल में है। बल का परिचय उसके ओज=तेज=आतङ्क (Prestige) में है। बल जनबल, धनबल, विद्याबल, आयुधबल आदि अनेक प्रकार का है। बल का फल ओज है। किसी देश में धनबल आदि बलों के विपुलमात्रा में होने पर भी यदि उसका आतङ्क नहीं है तो समझो कि यह बल राष्ट्र के लिए नहीं है। ओज के होने की पहचान भी इसी मंत्र में कह दी गई है कि देव भी समीप आकर झुकते हैं।' अर्थात् दैवी शक्तियाँ सभी उस राष्ट्र की सेविका बन कर रहती हैं, बड़े बड़े ज्ञानी विज्ञानी, कलाकौशल निपुण, विजिगीषु, व्यापार व्यवहार में उदार उस राष्ट्रमें आकर वास करते हैं। इसी कारण वेद में राजा को भी तप के द्वारा राष्ट्रपालन का आदेश है, जैसे—

ब्रह्मचर्य्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।

(अ० ११।५।१७)

ब्रह्मचर्य्य तप के द्वारा राजा राष्ट्र की विशेषरूप से रक्षा कर सकता है।

संस्कृत में एक उक्ति है—यथा राजा तथा प्रजा जैसे राजा वैसी प्रजा। इस का तात्पर्य यह है कि प्रजावर्ग राजवर्ग का अनुगामी होता है। यदि राजा तथा राजवर्ग ब्रह्मचारी सदाचारी तपस्वी है, तो प्रजा में ब्रह्मचर्य, तप, सदाचार का प्रचार तथा प्रसार मिलेगा। यदि राज्याधिकारी वर्ग की यह कामना हो कि प्रजा आपत् विपत् के समय उद्विग्न न हो, तो उन्हें प्रजा के समक्ष स्वयं तप का उदाहरण आदर्श प्रस्तुत करना होगा।

यहाँ तप का विशेषण ब्रह्मचर्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। संसार भर की संस्कृतियों से वैदिक संस्कृति की अनेक विशिष्टताओं में यह अत्यन्त महत्त्वशालिनी है। संसारकी प्रायः सभी संस्कृतियां विशेष कर योरुप देश से उद्भूत संस्कृतियां भोगप्रधाना हैं। आर्य्यों ने तो मनुष्य जीवन को चार आश्रमों में विभक्त करके ब्रह्मचर्य्य को बहुत महत्त्व दिया है। पहला आश्रम ब्रह्मचर्य्य तो है ही संयम, नियन्त्रण के अभ्यास तथा अनुष्ठान के लिए। वानप्रस्थ तथा संन्यास भी पूर्ण ब्रह्मचर्य्य के लिए हैं। भोग के लिए केवल एक गृहस्थ आश्रम है किन्तु वहां भी ऋतुकालाभिगमन का कठोर नियन्त्रण विद्यमान है। वेद तो ब्रह्मचर्य्य का इतना पक्षपाती है कि अथर्व वेद का एक पूरा सूक्त [अ० ११।५] इसके अर्पण है। मनुष्यमात्र के लिए वहां ब्रह्मचर्य्य के अनुष्ठान का आदेश है। राजा के लिए ब्रह्मचर्य्य की आवश्यकता ऊपर बतायी जा चुकी है। आचार्य्य के सम्बन्ध में कहा है—

आचार्य्यो ब्रह्मचर्य्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥

अ० ११।५।१७

आचार्य्य ब्रह्मचर्य्य के द्वारा ब्रह्मचारी की कामना करता है। अजितेन्द्रिय अब्रह्मचारी, व्यभिचारी व्यसनी आचार्य्य के शिष्य ब्रह्मचारी हो कैसे सकते हैं? वैदिक संस्कृति में आचार्य्य का विशेष स्थान है। जाति-निर्माण का तपःसाध्य महत्कार्य्य वह करता है। यदि वह जितेन्द्रिय और संयमी न होगा तो अपने शिष्यों को जितेन्द्रियता एवं संयम का उपदेश कर कैसे सकता है? राष्ट्रनिर्माता को ब्रह्मचारी ही होना चाहिए।

हम बता चुके हैं राष्ट्र की इकाई गृहस्थ है, देखिए, गृहस्थ के आधार-विवाह के संबन्ध में वेद कहता है--

ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्॥

अ० ११।५।१८

ब्रह्मचर्य्यसंपन्ना कन्या ब्रह्मचर्य से युक्त युवा को पति बनाती है। अर्थात् विवाह करने वाले, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले वधूवर दोनों का ब्रह्मचारी होना नितान्त आवश्यक है। मनुमहाराज ने इसके आधार पर लिखा है--

अविप्लुत ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥

मनु० अ० ३। श्लोक २।

अखण्डित ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम का अधिकारी है।

तात्पर्य्य यह कि ब्रह्मचर्य्य रूप तप आर्य्य धर्म्म के अनुसार क्या राजा और क्या प्रजा, क्या आचार्य और क्या शिष्य, क्या सागार (गृहस्थ) और क्या अनागर (ब्रह्मचारी. वनी, संन्यासी) सभी के लिए अनिवार्य है।

तप की इस उपयोगिता को लक्ष्य में रखकर वेद [ऋ० ६।८३-१३] में कहा गया है—

अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ।

जिसने तप की भट्टी में अपने तन मन को नहीं तपाया, वह उस रस [प्रभु के सर्वत्र फैले ब्रह्मानन्द रस] का पान नहीं कर सकता। जिन्हों ने तप की अग्नि में अपने आत्मा, मन, तन को तपा कर पकाया है, वे उस आनन्द रस को सदा धारण करते हैं उसका भोग करते हैं।

तप की यह महिमा काल्पनिक नहीं है, लोकव्यवहारसिद्ध है। देखिये सुवर्ण को जब तक अग्नि में तपाया न जाए, वह कुन्दन नहीं बनता। लोहा खानि से निकलते समय मिट्टी के साथ मिश्रित होता है। भट्टी में डालकर उसे मिट्टी से पृथक् करते हैं, तब वह लोहा—किन्तु कच्चा लोहा—बनता है। उसके पश्चात् वह नाना प्रकार से अग्नि संयोग द्वारा तपाया जाकर ईस्पात बनता है जिसके शस्त्रास्त्र आदि बनते हैं। मिट्टी से घड़ा बनाया गया है, जब तक आग में पकाया न जाए तब तक वह उपयोग में प्रयोग में नहीं लाया जा सकता।

इस प्रकार के सहस्रों उदाहरण दिये जा सकते हैं जो तप की महत्ता और उपयुक्तता के द्योतक हैं। अतः राष्ट्ररक्षा ऐसे बहुजनसाध्य एवं कष्टसाध्य महत्कार्य्य के लिये तप अनिवार्य्य है। राष्ट्र के शत्रुओं के वारण के लिए भी तप आवश्यक है। वेद [अ० ६।१०४।२] कहता है—

इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम् ।
अमित्रा येऽत्र नः सन्ति तानग्न आ द्या त्वम् ॥

इन्द्र के तप द्वारा तीक्ष्ण किये इस आदान [बन्धन तथा छेदन साधन] को मैंने बनाया है। हे अग्ने! नायक! हमारे इस राष्ट्र में जो हमारे शत्रु हैं, इसके द्वारा तू इनको खण्डित कर।

इस मन्त्र में आदान नामक एक शस्त्र विशेष की रचना तप द्वारा बतायी गई है। तप अनुष्ठान है, अतः राष्ट्ररक्षा में यह बहुत प्रधान है।

७. ब्रह्म=ज्ञान विज्ञान

ब्रह्म शब्द अनेकार्थ वाची है। यहां प्रकरण के अनुसार ज्ञान विज्ञान इसका अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है।

ज्ञान विज्ञान का महत्त्व संसार व्यवहार में अतीव स्पष्टता से सिद्ध हो रहा है। इस जगत् में जड़ और चेतन दो तत्त्व मुख्यतया कार्य करते प्रतीत होते हैं। अथवा यों कहा जा सकता है कि यह समस्त संसार जड़ चेतन के मेल का प्रसार है। जड़ में बहुत अधिक शक्ति है। सूर्य के ताप, प्रकाश की कोई थाह ले सका? अरबों वर्षों से यह ताप प्रकाश दे रहा है किन्तु क्या इसके इस कार्य में कोई न्यूनता या त्रुटि आई? फिर इसकी आकर्षण शक्ति का चमत्कार देखिए; सचन्द्र पृथिवी, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, अरुण, वरुण, प्लुतु नामक ज्ञात ग्रहों को उनके परिवार विस्तार तक थामे हुए हैं। पृथिवी से इतना दूर होते हुए भी पृथिवी पर उसका अतुल प्रभाव है। अग्नि की शक्ति कितनी

अद्‌भुत है ? तनिक सा अग्नि ब्रह्माण्ड भर को भस्मसात् करने में समर्थ है। वायु का बल देखिए। कितना महान् वेग है ? जहां-जहां भी प्राणिसृष्टि है, वहां वहां इसकी सत्ता प्राणियों के प्राण-धारण का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादन कर रही है। जल का बल भी विपुल है। जल है भी बहुत। पृथिवी में तीन चौथाई से अधिक जल है, अन्तरिक्ष में भी जल का विशाल सागर विद्यमान है। पृथिवी का सामर्थ्य सबको चकित किये देता है। कब से यह सब प्राणियों को आश्रय एवं जीवन सामग्री देती आ रही है ! कितनी तीव्र गति से यह अपनी धुरी-कीली पर तथा कितने वेग से सूर्य की परिक्रमा कर रही है !

किन्तु ये महाशक्ति सम्पन्न भूतजात हैं किस के लिए ?

चेतन के लिए।

अर्थात् चेतन इनका उपयोक्ता उपभोक्ता हुआ। स्पष्ट ही चेतन इन सबसे अधिक शक्तिशाली हुआ। चेतन में यह बल कहां से आया ? चेतन की चेतनता हो उसका बल है।

सृष्टि पर दृष्टि डाल देखिए, जहां जहां चेतनता की स्फूर्ति जितनी कम है, उतनी ही उसकी समर्थता कम है। प्रतीयमान न्यून चैतन्य वाला प्राणी अधिक चेतना सम्पन्न के वशवर्त्ती होता दीखता है। चेतनता=चैतन्य=ज्ञान एक ही पदार्थ है। उपर्युक्त उदाहरण बता रहे हैं कि जिसमें जितना ज्ञान अधिक होगा उतना ही वह अधिक शक्तिसम्पन्न होगा। मनुष्य के पास ज्ञान के साधन अधिक हैं। अतः वह समस्त प्राणियों की अपेक्षा उत्कृष्ट

है। इसी उत्कर्ष के कारण ही वह गजेन्द्र=हाथी, मृगेन्द्र (सिंह) से महाबल प्राणियों को अपने अधीन कर उनसे यथेच्छ कार्य लेता है। ज्ञान की कितनी गरिमा है।

ज्ञान के तारतम्य के कारण ही मनुष्यों में विभेद है जो अधिक ज्ञानसम्पन्न है अथवा जो अधिक ज्ञानियों को संकलित कर सका है, वह दूसरों से अधिक शक्तिसम्पन्न है। जो बात व्यक्ति के सम्बन्ध में सत्य है, वही समाज एवं राष्ट्र के विषय में तथ्य है। जिस समाज में ज्ञान और ज्ञानियों का जितना आधिक्य होगा, उतना ही वह समाज तथा राष्ट्र बलशाली एवं प्रभावशाली होगा।

कला-कौशल, शिल्प आदि जिनके द्वारा मानव समाज ने अद्भुत सर्जन सामर्थ्य का परिचय दिया है, ज्ञान-विज्ञान का ही परिणाम हैं। जिस देश में कला-कौशल, शिल्प की जितनी न्यूनता होगी, उतना ही वह दूसरों की अपेक्षा करेगा। दैनन्दिनीय व्यवहार की उपयोगी वस्तुओं के विनिमय में उसे अपने देश का अन्न और धन देना होगा, परिणाम दरिद्रता एवं भूख के रूप में प्रकट होगा। अन्न सम्पन्न होने पर भी वह देश भूखों मरेगा, अकाल, दुष्काल, दुर्भिक्ष और उन के फल महामारी आदि की मार उसके सिर पर सदा सवार रहेगी।

ज्ञान-विज्ञान के द्वारा कृषि के साधनों में उन्नति हो सकती है, भूमि की उपजशक्ति में वृद्धि हो सकती है। ज्ञान-विज्ञान के बल सहस्रों मनुष्यों का कार्य्य केवल दसों मनुष्यों द्वारा हो जाता

है। मनुष्य का समय पर्य्याप्त बच जाता है, उस बचे हुए समय को वह अपने तन, मन एवं आत्मा को उन्नत करने में लगा सकता है। ज्ञान-विज्ञान जन्य साधनों से हीन कृषक आकार में मनुष्य है, अन्यथा वह सर्वथा पशु ही है। पशु का भी सारा जीवन आहार जुटाने आदि में बीतता है, अज्ञानी मनुष्य की भी यही गति है। कृषक तो उदाहरण मात्र है। सभी व्यवसायों की यही दशा है। अतः ज्ञान-विज्ञान का सम्पादन देशहितसाधन के लिए अत्यन्त उपयोगी है। ज्ञान-विज्ञान-प्रवीण राष्ट्र ज्ञान-विज्ञान-विहान राष्ट्रों को हड़प लिया करते हैं या आर्थिक आदि रूप में अपना अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष दास बनाए रखते हैं। असमान बल वालों में मैत्री हो नहीं सकती, अतः असमान ज्ञान-विज्ञानवान् देशों में शास्यशासक भाव भले ही हो, सख्य नहीं बन सकता।

इस सारे भाव को मानो सामने रखकर वैदिक पुरोहित कहता है—

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्य्यं बलम्।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः॥

(अ० ३। १६। १)

मेरा यह ब्रह्म=ज्ञान-विज्ञान तीव्र है=सुसाधित है। मेरा वीर्य्य बल भी संशित है। इस हेतु जिनका मैं जयशील पुरोहित हूं, उनका अक्षीण=क्षीण न होने वाला क्षात्र बल भी साशत है।

ज्ञान के अनुसार ही कर्म्म का बल होता है। इसी लिए इस मन्त्र में पहले ब्रह्म=ज्ञानको सुसाधित बतलाया है, पश्चात् वीर्य्य=

पराक्रम बल की तीक्ष्णता का विधान हुआ है। तत्पश्चात् क्षात्र बल की विकटता प्रकट की गई है।

ज्ञान ही के द्वारा शत्रु मित्र का विवेक सम्भव है। राष्ट्र-उन्नति से मित्रों की, आत्मीयों की उन्नति एवं शत्रुओं का ह्रास आवश्यक है। जब तक शत्रु मित्र, पराये अपने का विवेक न हो, यह कार्य्य हो नहीं सकता। अतः ज्ञान=ब्रह्म की प्राप्ति राष्ट्र के लिए परम उपादेय है। वैदिक पुरोहित इसी भाव से कहता है—

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्।
क्षिणामि ब्रह्मणाऽमित्रानुन्नयामि स्वानहम्॥

अ० ३।१९।३

जो हमारे ज्ञानी राजा पर चढ़ाई करते हैं, वे नीचे गिरेंगे, अधम अवस्था को प्राप्त होंगे, क्योंकि मैं अपने ज्ञान बल से शत्रुओं का क्षय करता हूं और आत्मीयों=अपनों की उन्नति करता हूं।

अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में इस मन्त्र में उपदिष्ट है कि अपनी उन्नति एवं विरोधियों का क्षय ज्ञान से किया जा सकता है। एक और बात भी इस मन्त्र में ध्यान देने योग्य है। राजा को इस मन्त्र में 'सूरि=ज्ञानी' विशेषण दिया गया है। अर्थात् राजा केवल पुरोहित आदि मन्त्रिवर्ग पर ही भरोसा रखने वाला न हो, प्रत्युत स्वयं सूरि=महाप्राज्ञ, महाविद्वान् हो। राजा विद्वान् होगा तो राष्ट्रकार्य्य युक्तरूप से चला सकेगा।

ब्रह्मशक्ति=ज्ञान बल तभी सफल हो सकता है, जब वह क्षात्र-बल का सहकारी हो। इसी कारण वेद में कहा गया है—

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥

य० ३२ । १६

मेरा यह ज्ञान तथा क्षत्रबल दोनों ही शोभा प्राप्त करें। निष्काम ज्ञानी तथा दैवी शक्तियां मुझ में सर्वश्रेष्ठ शोभा का आधान करें मैं उस शोभा के लिए स्वाहा=आत्मसमर्पण करूं।

इससे अधिक स्पष्ट य० २० । २५ में बात कही है, वहां ज्ञान (ब्रह्म) और कर्म (क्षत्र) को एक साथ एक कार्य्यसाधक बनाने का उपदेश है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥

जिस देश में ब्रह्म=ज्ञान और क्षत्र=क्षात्रशक्ति उचित रूप से समन्वित एक साथ कार्य्य करते हैं और जहां देव अग्नि=उन्नति के साधनों, आगे बढ़ने के उपायों के साथ है उस देश को मैं पवित्र मानता हूँ।

अर्थात् ब्रह्म और क्षत्र का समन्वय तथा एक कार्य्यसाधन में युगपत् इकट्ठा रहना नितान्त आवश्यक है।

ब्रह्म को ब्राह्मण का उपलक्षण मानने से भी वही बात है। ज्ञानी के विना ज्ञान कैसे ?

राष्ट्र के लिए ब्रह्म=ज्ञान का उपयोग समझाने के लिए वेद राजा को सम्बोधन करके कहता है—

त्वामिन्द्र ब्रह्मणा वर्धयन्तः सत्रं निषेदुर्ऋषयो नाधमानाः।

अ० १७। १। १४

हे इन्द्र! ब्रह्म के द्वारा, ज्ञान के द्वारा तेरी बढ़ौती करते हुए तत्त्ववेत्ता ऋषि सदा यज्ञानुष्ठान करते हैं।

तत्त्वज्ञानियों का कर्त्तव्य है कि वे राजा और प्रजा का ब्रह्म द्वारा सदा कल्याण का अनुष्ठान करें।

ब्रह्म=ज्ञानविज्ञान आपत्तियों का वारक है, इस विषय में वेद ने बहुत सुन्दर कहा है—

प्रजापतेरावृतो वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषावर्चसा च।
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥

अ० १७। १। २७

परीवृतो ब्रह्मणा वर्म्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।
मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या मा मानुषीर वसृष्टावधाय ॥

अ० १७। १। २८

प्रजापति=राजा या परमेश्वर के ब्रह्मरूप वर्म=कवच से तथा सर्वद्रष्टा के तेजोमय वर्च से आच्छादित हुआ मैं पुरुषार्थकारी, सवव्यसनत्यागी, अति दीर्घ जीवन प्राप्त करके, सत्कर्म्म करता हुआ वृद्धावस्था तक विचरण करूं, मैं ब्रह्मरूप वर्म=कवच से तथा सर्वद्रष्टा के तेजोमय वर्च=ओज से ढका हुआ हूं। मेरे वध के लिए छोड़े हुए न दिव्य अस्त्र और न मानुष अस्त्र मुझ तक पहुँच सकते हैं।

बात भी ठीक है। ज्ञान के द्वारा मनुष्य आने वाली आपत्तियों का वारण पहले से ही कर लेता है। जिस रोग को उत्पन्न ही नहीं होने दिया गया, वह हानि कैसे करेगा ? बुद्धिमान् रोग का प्रतीकार तो करते हैं किन्तु रोग के प्रतीकार की अपेक्षा उसके मूल-कारणों का संहार पहले से करना श्रेष्ठ मानते हैं। इसका साधन ज्ञान है। अतः ज्ञान-साधन अत्यन्त आवश्यक है। राष्ट्र को भावी विपत्तियों से बचाने का एक मात्र साधन विपत्तियों के मूल कारण का ज्ञान है।

ब्रह्म के इस महत्त्व के कारण युद्ध-क्षेत्र यात्रा के लिए जाता हुआ सेनापति बहुत भरोसे से कहता है कि मुझे अपने विजय का पूरा विश्वास है, पराजय का तनिक भय नहीं है क्योंकि—

ब्रह्म वर्म ममान्तरम्।

(ऋ० ६। ७५। १९)

ब्रह्म=स्वपरसामर्थ्य ज्ञान तथा सब ज्ञान का मूल भगवान् मेरा आन्तर=अन्दरूनी=आन्तरिक वर्म है।

अर्थात् बाह्य कवच तो धारण करना ही चाहिए, वे तो सर्वथा उपादेय हैं किन्तु यदि भीतर में ब्रह्म कवच न होगा, तो बाह्य कवच कुछ बहुत लाभदायक सिद्ध न हो सकेंगे। इससे राष्ट्ररक्षा में ब्रह्म का उपयोग सिद्ध है। कवच की उपयोगिता का अपलाप कैसे किया जाए ?

ब्रह्म शब्द का एक अर्थ ब्रह्मचर्य्य है। तपः प्रकरण में उसके सम्बन्ध में कहा जा चुका है।

'ब्रह्म' शब्द का एक अर्थ वेद है। राष्ट्ररक्षा में वेद के उपयोग का अपलाप कोई मूर्ख भले ही करे। वेदवेत्ता विद्वान् नहीं कर सकता। राष्ट्र के सम्बन्ध में जितना प्राञ्जल वर्णन वेद में है, संसार के किसी भी धर्म्मग्रन्थ में नहीं है। राजा का चुनाव, राजा को राज्यकार्य में सहयोग एवं परामर्श देने, उसके सामने प्रजामत उपस्थित करने आदि के लिए सभा, समिति, एवं राजार्य सभा, विद्यार्य सभा तथा धर्मार्य सभा के निर्माण का विधान, भिन्न-भिन्न विभागों के संघटन तथा उनके अध्यक्षों की नियुक्ति, राष्ट्र संचालन के लिए अपेक्षित धन के आय की व्यवस्था, प्रजा से प्राप्त धन को प्रजाहितार्थ ही व्यय करने का आदेश, देश की आभ्यन्तर व्यवस्था को सुव्यवस्थित रखने तथा शान्ति स्थापित करने के लिए रक्षिपुरुषों=पुलिस की नियुक्ति, भव=Civil तथा शव Military विभागों का पारस्परिक सहयोग, परराष्ट्रों के साथ दूतों द्वारा संबन्ध स्थापित करने आदि, आवश्यकता पड़ने पर विरोधी राष्ट्रों से युद्ध करना, युद्ध करने तथा युद्ध का प्रतिकार करने के लिए सैन्य संग्रह, सैन्य संचालन, तथा युद्धोपयोगी नानाविधि शस्त्रास्त्रों के निर्माण का आदेश, व्यापार, शिल्प, कलाकौशल, कृषि आदि राष्ट्रोपयोगी व्यवहारों का निर्देश वेद में विशदता से हुआ है। राष्ट्रकार्य में वेद की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए मनुष्यों में धर्म (Law) कानून के सर्वप्रथम व्यवस्थापक मनु महाराज ने आदेश किया है—

सैनापत्यं च राज्यं च दण्ड नेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ (१२।१००)

सैनापत्यं=सेनासंचालन, राज्य=राष्ट्रसंचाल, दण्डनेतृत्व=न्यायशासन, समस्त संसार का आधिपत्य—इन सबका वेदशास्त्र का जानने वाला अधिकारी है।

मनु के इस निर्देश का गंभीर मनन करने की आवश्यकता है। राष्ट्र के मुख्य कार्यों का परिगणन कर मनु जी कहते हैं कि इन अधिकारों पर मूर्खों को अधिष्ठित न करो, प्रत्युत वेदशास्त्र निष्णात को इन सब अधिकारों पर अधिकृत करो। क्यों ? इसलिए कि वेद राजनीति का आकर ग्रन्थ है। राज्यनीति के जो तत्त्व वेद में वर्णित हुए हैं, अन्यत्र देखने में नहीं आते। राज्यसंबन्धी विविधवादों का सामञ्जस्य वेद में अतीव सुन्दर रीति से हुआ है। नीति विशारदों में अग्रणी प्रखरमति कौटल्य चाणक्य को भी अपने अर्थशास्त्र में राजा के लिए वेदशास्त्र का ज्ञान आवश्यक बतलाना पड़ा—

वृत्तोपनयनस्त्रयीमान् आन्वीक्षिकीं च शिष्टेभ्यो वार्तामध्यक्षेभ्यो दण्डनीतिं वक्तृप्रयोक्तृभ्यः ॥

(अर्थशास्त्र, विनयाधिकारिक, ५।८)

राजा उपनयन कराके वेदाध्ययन करे, तथा शिष्ट विद्वानों से न्यायविद्या, तत्तद्विभागों के अध्यक्षों से सभा वार्त्ता=कृषि शिल्पादि तथा वकील एवं न्यायाधीशों से राजनीति सीखे।

चाणक्य स्पष्ट ही राजा के लिए वेद का ज्ञाता होना आवश्यक बतला रहे हैं। सब विद्याओं के मूल के ज्ञान के बिना राज्यचक्र चलाना संभव नहीं है। वेद के संबन्ध में चाणक्य एक बात और भी कहते हैं—

त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ।

(अ० शा० विनया० ३।१७)

सचमुच वेद द्वारा ही रक्षित संसार सुखी होता है, दुःखी नहीं होता।

अतः राष्ट्र कर्म्मकारियों को वेद का ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

८ यज्ञ=अनुष्ठान :—

ज्ञान का पर्य्यवसान अनुष्ठान में है। अनुष्ठान के विना ज्ञान निष्प्राण है। इसी कारण वेद में ज्ञान और कर्म का एकस्थ वर्णन हुआ है।

वैदिक धर्म के अनुसार जीवन यज्ञ है। जैसाकि छान्दोग्योपनिषत् में कहा है—

पुरुषो वाव यज्ञः—मानव जीवन यज्ञ है। यज्ञ का मूल अर्थ समझने से मानव जीवन का यज्ञ होना अवगत हो सकता है। यज्ञ का अर्थ है—देवपूजा, सङ्गतिकरण तथा दान। देवपूजा का अर्थ है—दैवीशक्तियों—सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, जल, पृथिवी, वनस्पति आदि से यथायोग्य उपयोग लेना; विद्वानों का आदर सत्कार करना। शिल्पियों, कलाकारों, कलाविदों, पदार्थविद्या के पंडितों का आदर करना। यजुर्वेद के तीसरे अध्याय में प्रायः सभी व्यवसाय गिनाये गये हैं। उस अध्याय का नाम है नरमेध=नर का अर्थ है नेता, मुखिया। अर्थात् प्रत्येक व्यवसाय के मुखियों को इकट्ठा रखना। यज्ञ का दूसरा अर्थ सङ्गतिकरण नरमेध का मूल है। नरमेध, गोमेध, अश्वमेध, अजमेध तथा अविमेध नामक पांच प्रसिद्ध यज्ञ हैं। मध्यकाल के वेदानभिज्ञ लोग उनमें हत्या का

विधान मानते थे। उनके मन में अश्वमेध यज्ञ घोड़े को मारने के लिए होता था। इस दृष्टि से नरमेध में भी मनुष्य हत्या होनी चाहिए किन्तु हिंसा के अति प्रबल पोषक महीधर भी नरमेध में ऐसा विधान न करसके। यज्ञयूपों में पशुवत् सब ब्राह्मणादिकों को बाँधने का विधान करके प्रोक्षणादि यज्ञोपयोगी सभी कर्मों का कथन करके अन्त में उन्हें लिखना पड़ा—

ततः सर्वान् ब्रह्मणादीन् यूपेभ्यो विमुच्योत्सृजति।

यजुर्वेद भाष्य ३०।२२

तब सब ब्राह्मणादिकों को यज्ञ के यूपों=खंभों से छुड़ा कर छुट्टी दे देता है।

जिस किसी हेतु से महीधर एवं पूर्ववर्त्ती याज्ञिकों ने यज्ञ में पुरुषों का मारना अवैध समझा, उसी हेतु से हम यज्ञ में अश्व आदि की हत्या को अवैध मानते हैं। वेद में मनुष्य, पशु आदि की हिंसा का स्पष्ट निषेध है देखिए—

इमं मा हिंसीद्विपादं पशुम् (य० १३।४७)

इमं मा हिंसीरेकशफं पशु (य० १३।१८)

घृतं दुहानमदितिंजनायाग्ने मा हिँ सीः (य० १३।४६)

इममूर्णायु—माहिँ सीः (य० १३।५०)

गां माहिँ सी (य० १३।४३)

दो पाये अर्थात् मनुष्य, पक्षी प्रभृति को मत मार॥ एक खुर वाले अर्थात् घोड़ा गदहा, जीरफ, जेबरा प्रभृति को मत मार॥

मनुष्य को घी देने वाली गौ आदि पशुओं को मत मार। ऊन वाले भेड़, बकरी, ऊँट आदि को मत मार। गौ को मत मार।

तनिक विचारिये, नरमेध आदि यज्ञों में जिन पशुओं के मारने का विधान बताया जाता है, वेद उन सब की हत्या का निषेध कर रहा है। अतः यज्ञ को हिंसामय बताना कपोलकल्पना है, जिह्वा की लोलुपता का फल है, वेदानभिज्ञता का फल है। महीधर के अनुसार नरमेध का भाव है, नाना व्यवसायों के मनुष्यों को एकत्र करना, क्यों न यह माना जाए कि अश्वमेध का अर्थ है, नाना प्रकार की भेड़ों तथा तत्समानजातीय ऊर्णायु पशुओं को एकस्थ करना; अजामेध का अर्थ है छाग बकरी तथा तत्समान जातीय हरिण आदि को एक स्थान में संगृहीत करना, गोमेध का भाव गोजातीय पशुओं का एकस्थ करना, अविमेध का अर्थ है घोड़ा आदि एक खुर वाले पशुओं का इकट्ठा करना।

तात्पर्य यह कि एक या अनेक विशाल प्रदर्शनी या प्रदर्शनियों के आयोजन का नाम नरमेध आदि यज्ञ है। जिसमें सब प्रकार के व्यवसायी समवेत हो कर अपने कलाज्ञान का प्रदर्शन कर जनता से उत्साह पाएं और उसे उत्साह दिलाएं। गौ आदि पशुओं की प्रदर्शनी का प्रयोजन भी तत्तत् की वंशवृद्धि एवं उन में उत्कर्षाधान के साधनों के अनुष्ठान करने को उत्साहित एवं उत्तेजित करना है। सभ्यदेशों में आज भी ऐसे आयोजन होते रहते हैं। सनातन सत्य के उपदेष्टा वेद ने इन को यज्ञ नाम देकर इन पर पवित्रता की छाप लगा दी है। राष्ट्रहित का प्रत्येक कार्य्य पवित्र है, यज्ञ है। इसी लिए संग्राम को भी यज्ञ कहा गया है।

यज्ञ के यूपों से विविध शिल्पियों का बांधना एक आलङ्कारिक वर्णन है। यूप यज्ञमण्डप का आधार है। यज्ञमण्डप यूपों के बिना रह ही नहीं सकता। यज्ञ मण्डपको स्थिर तथा दृढ़ रखने के यूपरूपी धरुणों की आवश्यकता है। यज्ञ, हम बता चुके हैं, संगठन का नाम है। यूप संगठन का आधार है। यूपों से शिल्पियों को बांधने का अर्थ है—संगठन के आधारभूत तत्त्वों के साथ शिल्पियों को संबद्ध करना। अर्थात् संगठन के मूलतत्त्व की ऐसी व्यवस्था करना, जिससे शिल्पी, व्यवसायी, कलाकौशल प्रवीण, विज्ञानधुरीण, विविधज्ञानपारावारीण लोग उससे अपना संबन्ध बनाए रखें। प्रत्येक यूप के साथ भिन्न-भिन्न व्यवसाय वालों के बन्धन का विधान है। संगठन के विभिन्न मूलाधारों को भिन्न भिन्न शिल्पों की अपेक्षा हुआ करती है। उन शिल्पियों को उन यूपों से बांधना=संबद्ध करना अपरिहार्य्य हैं, आवश्यक कर्त्तव्य है, किन्तु बांध कर छोड़ देना, हत्या न करना भी वैसा ही कर्त्तव्य है। अर्थात् संगठन के मूलाधार तत्त्वों के साथ व्यवसायों का संबन्ध अवश्य करो, किन्तु उन के स्वातन्त्र्य का, स्वतन्त्र विकास में प्रतिबन्ध न लगाओ, प्रत्युत उनको उन्मुक्त होकर बढ़ने दो, व्यवसायों की हत्या तो कभी भी नहीं करनी चाहिए। कितना सुन्दर भाव यज्ञयूपों के साथ शिल्पि-मनुष्यों के बांधने और उत्सर्ग करने का है ?

यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय के १ से २७ तक प्रत्येक मन्त्र के अन्त में 'यज्ञेन कल्पन्ताम्' [यज्ञ के द्वारा सफल हों, समर्थ

हों] आता है, उन मन्त्रों को देखने से प्रतीत होता है—शिक्षा, कृषि, पशुपालन, उद्यान संस्थापन, कला, सेनासंचालन, संग्राम, भूगर्भ से सुवर्ण आदि का निकालना, प्राणसाधन, शरीर को उत्कृष्ट बनाना, उत्तम सन्तान उत्पन्न करना, चिकित्सा करना, शाला-निर्माण आदि आदि मनुष्योपयोगी पदार्थों का साधन तथा सन्धान सभी यज्ञ के अन्तर्गत है ।

इन कार्य्यों की सिद्धि और वह भी उत्कृष्ट सिद्धि एक एक व्यक्ति से साध्य नहीं, अपितु संघों द्वारा इन कार्य्यों की निष्पत्ति संभव है। इन कार्य्यों पर दृष्टि डालने से एक बात और भी सामने आती है कि पदार्थों की योग्यता एवं उपयोगिता का विचार करके उनका उचित अनुपात में संमेलन और संमिश्रण करने से लाभ होता है। इसी को संगतिकरण कहते हैं ।

संगतिकरण का एक अर्थ है एक चाल या एक भाव करना । अर्थात् भिन्न भिन्न स्वार्थ वाले व्यक्ति किसी विशिष्ट महास्वार्थ के लिए एक भावापन्न हो जाएं। वेद में इसके संबन्ध में अनेक मन्त्र आए हैं। यहाँ हम एक परम प्रसिद्ध मन्त्र का उल्लेख करते हैं—

सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

(ऋ० १०।१९१।२)

तुम सबकी एक चाल हो, इसके लिए तुम सबका बोल (भाषा) एक हो, और उसके लिए तुम सब ज्ञानियों के मन एक हों। यथा

पूर्ण निष्काम ज्ञानी एक जैसे ज्ञानवान् होकर भजनीय = सेवनीय का सेवन करते हैं।

संगति-करण = एक चाल करने के लिए एक भाषा का होना आवश्यक है। भाव और भाषा का गहरा सम्बन्ध है। भाषाभेद के कारण भाव भेद हो जाया करता है। भावभेद का तो क्या कहना, भाषाभेद के कारण भावबोध भी कठिन हो जाया करता है। अतः भावैक्य के लिए भाषा की एकता अपरिहार्य है। भाषा की एकता के लिए मनों की एकता आवश्यक है।

यज्ञ का तीसरा अर्थ दान है। दान का भाव है अपनी किसी वस्तु पर अपना अधिकार त्याग करके उस पर दूसरे का अधिकार करा देना। यह ऐसा कार्य है जिसके बिना संसार का कार्य चल ही नहीं सकता। मनुष्य जब अकेला है तब जो कुछ कमाता है उसका वह अकेला स्वामी है। उसका जब विवाह हो जाता है, तब अपनी कमाई का भाग अपने दूसरे साथी को देता है, न दे, तो गृहस्थी के शकट का चलना विकट हो जाए। गृहस्थ राष्ट्र की इकाई है, मूल है। विवाह करते समय वर और वधू दोनों बोलते हैं—

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥

(ऋ० १०।८५।४७)

सम्पूर्ण देव एक सी गति करें। जैसे जल में जल मिल कर एक हो जाता है, वैसे हम दोनों के हृदय मिलकर एक हो जाएँ।

हमारे प्राण, हमारा आत्मा तथा हमारी देष्ट्री=बुद्धि हम दोनों को एक बना दें।

यदि पति पत्नी के विचार परस्पर विरुद्ध हों तो गृहस्थी चल ही न सके। छोटी सी गृहस्थी चलाने के लिए जब विचार, व्यवहार, जीवन की एकता की आवश्यकता है तो महान् राष्ट्र को, जिस के सुव्यवस्थित हुए बिना गृहस्थी का सुव्यवस्थित रहना अशक्य है, चलाने के लिए विचारों, व्यवहारों की एकता की आवश्यकता में तो कोई सन्देह ही नहीं रहना चाहिए।

यज्ञ के इन अर्थों पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि यज्ञ का अनुष्ठान विशाल बुद्धि एवं अद्भुत चातुर्य्य तथा अतिशय माधुर्य्य की अपेक्षा करता है। वेद (ऋ० ५।५।२) में कहा गया है—

नराशंसः सुषूदतीमं यज्ञमदाभ्यः। कविर्हि मधुहस्त्यः॥

मनुष्यों में प्रशंसनीय, मनुष्यशिक्षक, अदाभ्य=किसी से न दबने वाला, क्रान्तदर्शी और मधुमय हाथों वाला ही इस यज्ञ का उत्तमता से संचालन कर सकता है।

सब मनुष्यों को एक भावापन्न करने के लिये अत्यन्त योग्य मनुष्य चाहिए। वेद की परिभाषा में उसे नराशंस कहते हैं। वेद में अनेक स्थलों पर अग्नि को नराशंस कहा गया है। अग्नि का अर्थ आगे ले जाने वाला, नेता, अगुआ, पुरोहित है। नेता का नराशंस=मनुष्यों में, से, प्रशंसनीय होना आवश्यक है। यदि उसे लोगों के मनोभावों का ज्ञान न हो, छिपी बात के जानने की

क्षमता न हो, तो उनके मनों में एकता का संचार कैसे करेगा। इस वास्ते उसे कवि=क्रान्तदर्शी होना चाहिए। कवि का एक भाव और भी है कविता करने की दक्षता। सचमुच कवि अद्भुत कार्य कर सकता है। अपने कवित्वसामर्थ्य से वह मृतकों में जीवन-संचार कर सकता है। सोते राष्ट्र को कवि जगा सकता है। कवि में यह गुण उसके मानव प्रकृति के गम्भीर ज्ञान के कारण है। नेता का प्रकृतिनिरीक्षण गुण बहुत प्रौढ होना चाहिए। जन-नायक अदाम्य होना चाहिए, जिसके समक्ष कोई धृष्टता न कर सके। उसका भाषण ओजस्वी होते हुए भी मधुर हो, उसके हाथों में अर्थात् व्यवहारों और कार्य्यों में माधुर्य्य हो।

न्यून से न्यून इतने गुण हों तब मनुष्य राष्ट्रयज्ञ का नेता बन सकता है। यज्ञ का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है—

ते वो हृदे मनसे सन्तु यज्ञाः।

(ऋ० ४।३६।२)

वे यज्ञ तुम्हारे हृदय और मन के लिए समर्थ हों।

अर्थात् यज्ञ का कार्य्य केवल हार्दिक नहीं है और न ही केवल मात्र मानसिक है। बस हृदय और मन दोनों के लिए है। अर्थात् कठोरता और मृदुता दोनों का सम्पादन यज्ञ का कार्य्य है। राष्ट्र के लिए हृदय और मन दोनों अर्पित रहने चाहिएं। ऋग्वेद (अ० १।११७।८) में कहा है—

अयं यज्ञो देवया अयं मियेध्यः—यह यज्ञ देवों से मिलाने वाला, पवित्रता लाने वाला है, संगति करने वाला है।

जिस राष्ट्र में विद्वानों की बहुतायत है, विजयाभिलाषियों की भरमार हो, व्यवहारकुशल शिल्पियों एवं व्यापार प्रवीण व्यापारियों की संख्या पर्य्याप्त हो, समझो वहां राष्ट्रयज्ञ का सञ्चालन उत्तमता से हो रहा है।

वेद में इस यज्ञ को आगे बढ़ाने का आदेश है—

प्राञ्चं यज्ञं प्रणयत सखायः

(ऋ० १०। १०१। २)

आगे ले जाने वाले इस यज्ञ को समान भाव वाले होकर आगे ले चलो।

इस भाव को अधिक स्पष्ट रूप से इससे पूर्व मन्त्र में कहा है—

उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः

समानमग्निमिन्ध्वं बहवः सनीलाः।

(ऋ० १०। १०१। १)

जागो। एक मन वाले, समान लक्ष्य वाले होकर, समान स्थान में रहने वाले बहुत से मिलकर एक सी [राष्ट्र हित की] आग जलाओ।

राष्ट्रहित की आग को जलाने वाले अनेक हों, उनका मन, उनका उद्देश्य एक सा हो, उनका ठिकाना एक सा हो। अर्थात् सब प्रकार से उनमें एकता और समता हो, तभी सफलता मिल सकती है।

केवल राष्ट्र-अग्नि जला कर ही शान्त नहीं हो जाना चाहिए, वरन् इसे यज्ञ के द्वारा बढ़ाना चाहिए। जैसा कि वेद [ऋ० २।२।१] कहता है—

यज्ञेन वर्धत जातवेदसमग्निं यजध्वं हविषा तना गिरा ॥

यज्ञके द्वारा इस अग्नि को बढ़ाओ, और बढ़ाकर जातवेदा:= सब में विद्यमान कर दो। इसके लिए हवि=धन, तन [सन्तान भी] तथा वाणी से यज्ञ करो।

राष्ट्ररक्षा के लिए धन तन जन सभी को, आवश्यकता पड़ने पर, वारने में ननुनच नहीं करना चाहिए।

इस यज्ञ के अनुष्ठान में पारस्परिक घात प्रतिघात नहीं होना चाहिए। वेद [ऋ० ३। २९। ९] कहता है—

कृणोत धूमं वृषणं सखायोऽस्रेधन्त इतनवाजमच्छ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवासो असहन्त दस्यून् ॥

एक भावापन्न होकर बलशाली धुआं करो। एक दूसरे की हिंसा=घात-पात न करते हुए भलीभांति यज्ञ को प्राप्त होवो। यह यज्ञाग्नि उपद्रवों को शान्त करने वाला है, यह ऐसा सुवीर है जिस के द्वारा विजयाभिलाषी वीर दस्युओं को दबा देते हैं।

धूम का अर्थ साधारणतया धुंआ है किन्तु मूल अर्थ आन्दोलन (Movement agitation) है। आन्दोलन चलाने की रीति यहां बताई गई। आन्दोलन करने वाले सखा=समान उद्देश्य वाले हों। अर्थात् संगठन बना के आन्दोलन चलाना चाहिये। आन्दोलन चलाते हुए इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि परस्पर की फूट न हो जाए, एक दूसरे का घात-पात न हो जाए। जब इस प्रकार का धूम=आन्दोलन होगा, तो ऐसी प्रबल आग भड़केगी जो सब उपद्रवों को शान्त कर देगी। ऐसी प्रबल आग

जो दस्युओं को समाप्त कर देगी। इस मन्त्र में इस आन्दोलन जनित राष्ट्रसंगठन को सुवीर कहा गया है। वेद में सुवीर का लक्षण इस भांति किया गया है।

नयसीद्वति द्विषः कृणोष्युक्थशंसिनः। नृभिः सुवीर उच्यसे ॥

(ऋ० ६।४५।६)

तू द्वेषियों तथा द्वेषभावों को हम से दूर ले जाता है और उनको प्रशंसक बना देता है, अतएव तू मनुष्यों से सुवीर कहा जाता है।

द्वेषियों को दूर कर, लोगों में द्वेषभाव का नाश करके जो उन को परस्पर का प्रशंसक बना दे, वह 'सुवीर' है।

राष्ट्र का प्रत्येक कार्य्यकर्त्ता एक दूसरे का प्रशंसक हो न कि छिद्रान्वेषी। मर्म की बात है। इसके अभाव में राष्ट्रों का सर्वनाश हो जाया करता है।

यज्ञ के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण में एक अतीव सुन्दर मनोहर आख्यायिका है। प्रकृत में उपयोगी होने से उसका भाव यहां दिया जाता है—

"भूमि के अधिकार के लिये देवों और असुरों में प्रतिस्पर्धा होने लगी। देव कहते थे भूमि पर हमारा अधिकार है। इसके विपरीत असुर अपना अधिकार जताते थे। दोनों में युद्ध छिड़ गया। देव हारने लगे। अन्त में देवों ने विष्णु=यज्ञ को आगे किया। यज्ञ वामन था। देवों ने असुरों से यज्ञ के लिए तदनुरूप भूमि माँगी। असुरों ने देदी। यज्ञ फैल गया। असुरों को स्थान न रहा।"

हम बता चुके हैं यज्ञ संगठन का वैदिक नाम है। संगठन आरम्भ में वामन=छोटा होता है, विधि से विहित होने पर फैल जाता है। जिस प्रकार यज्ञधूम यज्ञ कुण्ड में बद्ध न रहकर दूर-दूर फैल जाता है, इसी प्रकार संगठन की दशा है। उसी शतपथ में देवों और असुरों के सम्बन्ध में कहा गया है—

'देवा अन्योऽन्यस्मिन् जुह्वतश्चेरुः'

देव एक दूसरे में होम करते थे। अर्थात् स्वार्थत्याग पूर्वक परहित में रत थे। और **'असुरा आत्मन्येव जुह्वतश्चेरुः'** असुर अपने ही में हवन करते थे। असुर–कहते ही प्राणपोषण तत्पर को, शिश्नोदर परायण को। स्वार्थि समुदाय परार्थियों के सामने क्योंकर ठहर सकता। एक दूसरे के हित में निरत, संगठित संगठन के अन्तर्गत सभासमिति आजाते हैं। विस्तार भय से उन का निरूपण नहीं करते। संगठित रूप में जनहित कर्त्ता देव हैं और तद्विपरीत असुर हैं।

अग्निहोत्रादि यज्ञयाग भी राष्ट्र के स्वास्थ्य को स्थिर रखने के लिए आवश्यक हैं। महामारी आदि संक्रामक रोग तो नष्ट ही यज्ञों द्वारा होते हैं। इसी प्रकार अनावृष्टि तथा अतिवृष्टि रूप आपत्तियां भी यज्ञ से निवारण की जा सकती हैं इसलिए यज्ञ राष्ट्र के लिए सर्वथा उपादेय है। यज्ञ के लिये सत्य, बृहत्, उग्र, दीक्षा, तप तथा ब्रह्म की आवश्यकता हुआ करती है। इन के बिना यज्ञ निष्पन्न नहीं होता।

जिस राष्ट्र में सत्य, महत्त्वाकांक्षा, ऋत, उग्रता, दीक्षा, तप तथा ब्रह्म=ज्ञान के साथ यज्ञ का अनुष्ठान होता है। उस राष्ट्र के वासी पूरे भरोसे के साथ कह सकते हैं

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरङ्कृतम् ।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधया ऽन्नेन मर्त्याः ।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथ्वी कृणोतु ॥

अ० १२।१।२२

राष्ट्र में बुद्धिमान् मनुष्य देवों को यज्ञ और अलंकृत=सुसंस्कृत हव्य=खाद्य पदार्थ देते हैं। इस राष्ट्र में ही मरणधर्म्मा मनुष्य स्वधा और अन्न से जीते हैं। हमारी मातृभूमि हमें प्राण=जीवनी शक्ति एवं दीर्घायु देवे। बुढ़ापे तक जीवनोपभोग का बल हमारी मातृभूमि हमें दे।

अन्त में सर्वकल्याणनिलय मङ्गलमय भगवान् से प्रार्थना है कि वह हमें सामर्थ्य दे कि हम कह सकें।

......वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥

अ० १२।१।६२

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥

अ० १२।१।६३

हे भूमि मातः ! हम तुझे बलि अर्पण करने वाले हों अर्थात

मातृभूमि पर सब कुछ न्यौछावर करदें। तुझे संमान से प्रतिष्ठित करें। तेरी कीर्ति द्यौ तक फैले और मुझे सम्पत्तियों और विभूतियों का धारक बना दे।

मन्त्र के उत्तरार्ध में मातृ भूमि के सम्बन्ध में एक बहुत ही महत्त्व की बात कही गई है : वह यह कि मातृभूमि 'हमारे भूत= अतीत, वर्त्तमान तथा भविष्यत् की रक्षिका है। यह केवल कवित्व ही नहीं वरन् एक उग्र सत्य है। मातृभूमि के एक एक कण के साथ तद्वासियों का सम्बन्ध जुड़ा होता है। विशेष स्थलों को देखकर अपने पूर्वजों से सम्बन्ध रखने वाली मधुर या कटु स्मृति जाग खड़ी होती है। उनके कारण मनुष्य का मन उत्साह से उद्वेल्लित उच्छ्वसित तथा उच्छलित होता है, अथवा दुःखभरी स्मृति के कारण आठ-आठ आंसू रोता है। वेद ने अतीव मार्मिक शब्दों में कहा है—

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्॥

(अ० १२। १। ५)

यस्यां पूर्वे भूत कृत ऋषयो गा उदानृचुः।

(अ० १२। १। ३६)

जिस भूमि में हम से पूर्ववर्त्ती पूर्वजों ने नाना प्रकार के विक्रम और पुरुषार्थ किये जहां देवों ने, महात्माओं ने असुरों को=दुष्टों को पछाड़ा। जिसमें हमारे पूर्वज यथार्थकारी ऋषियों ने वेदों का स्तवन किया, ज्ञान का उपदेश किया।

उथल-पुथल के कारण कई प्रदेश भूमि में विलीन हो जाते हैं, पुरातत्त्ववेत्ता उनकी खुदाई करके पुरातन इतिहास की खोज किया करते हैं। अतः भूमि को मातृभूमि के भूत की रक्षिका कहना अत्यन्त उचित है।

सीधी सी बात है कि जिसके साथ कोई सम्बन्ध हो, उसके हित करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। उसके इष्ट तथा अनिष्ट से हर्ष शोक होना भी स्वाभाविक है। इस तत्त्व को सामने रखकर मातृभूमि से सम्बन्ध-यथार्थ सम्बन्ध जताने के लिए यह बात कही गई है।

वर्त्तमान के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है। इस भूमि पर मनुष्य उत्पन्न होता है, प्रायः वहीं पलता है, बढ़ता है। अन्त में प्रायः वहीं प्राण विसर्जन करता है। जन्म से मृत्यु लों मातृभूमि से सम्बन्ध बना रहता है। वेद बहुत सुन्दर शब्दों में इस अवस्था का वर्णन करता है—

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलवाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।
सा नो भूमिः प्रणुदतांसपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥

(अ० १२।१।४१)

जिस भूमि पर नाचने गाने वाले मनुष्य गाते हैं, नाचते हैं, जिसमें योधा युद्ध करते हैं, जिसमें चीख पुकार होती है। ढोल

आदि बाजे बजते हैं। वह भूमि हमारे शत्रुओं को परे करे, मातृ भूमि हमें शत्रुरहित करे।

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः।

(अ० १२। १। ४२)

जिसमें चावल, जौ आदि विविध प्रकार का अन्न है, जिसमें यह पांचों प्रकार के मनुष्य बसते हैं।

गाना बजाना युद्ध आदि का वर्णन ऐसा है, जैसा मानो सामने से देखे का वर्णन हो। अन्नादि की उपलब्धि तथा मनुष्य के बसने की बात प्रत्यक्ष वर्त्तमान से सम्बन्ध रखती है। इसका सम्बन्ध साक्षात् पृथिवी से है और वह भी वर्त्तमानकालिक। अतीत और वर्त्तमान के सहारे भविष्यत् बनता है। परिश्रमी कृषक बीज बोता है और भविष्यत् में होने वाले अन्न की आशा से। छात्र दिन रात एक करके अपने पाठ्यग्रन्थों के अभ्यास में व्यस्त है भावी सफलता की आशा से।

पृथिवी को रत्नगर्भा कहा जाता है, जो इसे रत्नगर्भा जानकर यत्न करेगा, वह प्राप्त भी करेगा। वर्त्तमान यत्न का फल भविष्यत् में ही होता है। वर्त्तमान आकांक्षा का फल भविष्यत् में ही होता है। वेद कहता है—

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना॥

(अ० १२। १। ४४)

नाना प्रकार की विधि—धन, हीरा आदि सुवर्ण लोहा, चांदी आदि को छिपाकर धारण करने वाली वसुधा=धनदात्री पृथिवी देवी हमें धन देती हुई मानो प्रसन्न मन से हमें धारण करे।

वसुन्धरा और विपुला होती हुई भी कइयों को इस पृथिवी पर स्थान ही नहीं मिलता। स्थान न मिलने के कारण उन्हें सर्वत्र अन्धकार दीखने लगता है। यदि अपना राज्य हो, स्वराज्य तथा सुराज्य हो दो फिर सब के लिए विपुल स्थान एवं पुष्कल जीवन साधन सुसाध्य एवं सुलभ होते हैं। सुराज्य स्वराज्य की पहचान ही यही है, अतः मन्त्र का उत्तरार्ध कहता है—

सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।

[इस मन्त्र का अर्थ आरम्भ में दे दिया गया है।]

अन्त में भव्यभावन भगवान् से उसी के सिखाए शब्दों में ही उससे प्रार्थना करते हैं कि प्रभो! तेरी दया से—

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नाना वीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः॥

(अ० १२। १। २)

मनुष्यों की विविध गति के लिए हमारी जिस मातृभूमि में ऊबड़ खाबड़, ऊंच नीच, सम विषम बहुत स्थान हैं जो अनेक शक्ति सम्पन्न औषधियों को धारण करती है वह पृथिवी हमारे लिए विस्तृत रहे खुली रहे तथा सर्वकार्य्यसाधिका हो।

इसके साथ ही उससे प्रार्थना है कि—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽति व्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढा नड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धि र्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

हे सर्वतो महन् भगवन् ! आपकी दया से इस राष्ट्र में ज्ञान-विज्ञान के तेज और ओज से सम्पन्न ब्राह्मण उत्पन्न हों, शूर, महारथी शत्रुओं को अत्यन्त उद्विग्न करने वाले, शास्त्रास्त्र के संचालन में निपुण क्षत्रिय उत्पन्न हों। इस राष्ट्र में दूधार गौओं की भरमार हो, भारवाही शकटों तथा शकटवाहन साधनों की बहुतायत हो, अश्व आदि तीव्रगति वाले हों; यहां की स्त्रियां बिपुल बुद्धिमती एवं नगरों के प्रबन्ध में कुशल हों। रथचालक, रथारोही जयशील हों, यजमानों के सन्तान जवान, वीर, सभेय=सभा के कार्यों में कुशल Parliamentarian हों। प्रभो ! जब जब हमारी इच्छा हो, वर्षा तब तब हो जाया करे। हमारा वनस्पति जगत् यथायोग्य हो, यथासमय फलपुष्पशाली हो, ताकि हमारी योगक्षेम=प्रापणीय पदार्थों की अवश्य प्राप्ति और वारणीय वस्तुओं का वारण यथासमय सफल हुआ करे।

[यह हमारी राष्ट्रीय प्रार्थना है, राष्ट्र के लिए सभी उपयोगी पदार्थों की कामना है। यजमान पुत्र का सभेय होना, स्त्री का पुरन्धि होना, समय समय पर इच्छानुसार प्रबन्ध कर सकना, क्षत्रिय का शस्त्रास्त्र संचालन कुशल होना विशेष मनन करने योग्य हैं। तनिक ध्यान से देखिए यह व्यक्ति की प्रार्थना नहीं है, यह समष्टि की प्रार्थना है]

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥


सार्वदेशिक प्रेस, दरियागंज देहली ॥